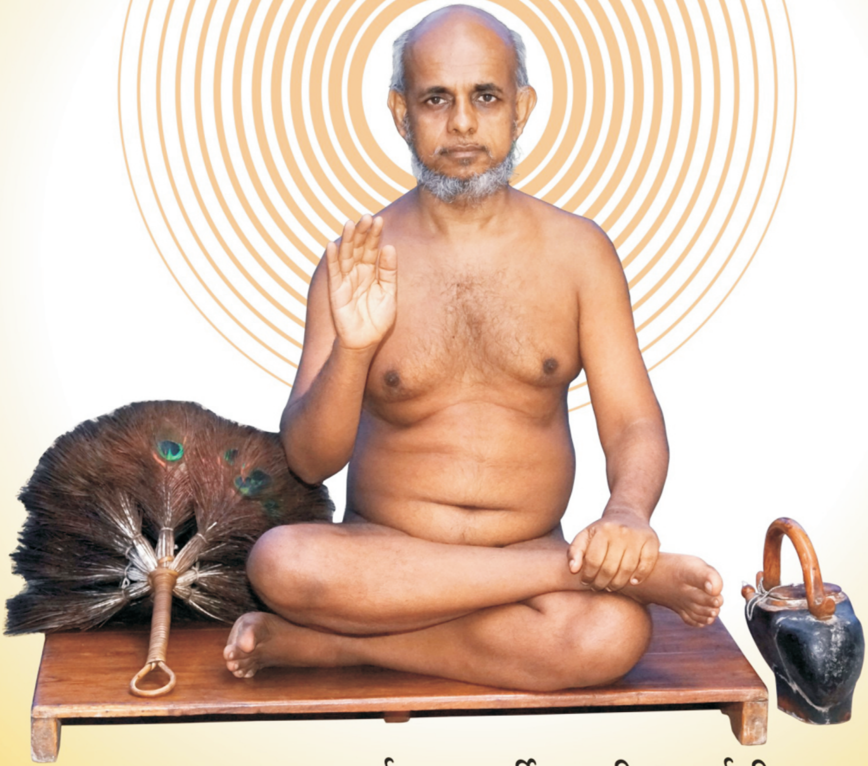

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैन कर्मसिद्धान्त और मनोविज्ञान की भाषा

लेखक
डॉक्टर रतनलाल जैन
हाँसी (हरियाणा)

(परम्परानायक)

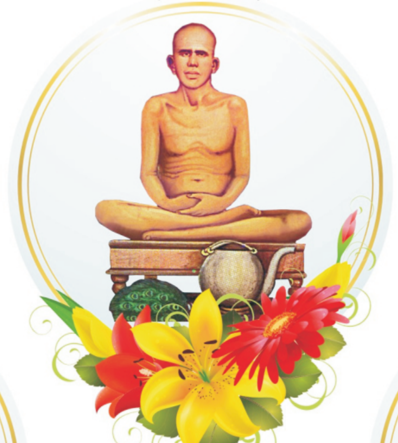

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

जैन-दर्शन और योग-दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

□ रत्नलाल जैन*

भारत-भूमि दर्शनों की जन्म-स्थली है, पुण्य स्थली है। इस पुण्य भूमि पर न्याय सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक बौद्ध, जैन—आदि अनेक दर्शनों का आविर्भाव हुआ। उनकी विचार-धाराएं हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊंची, तथा समुद्र से भी अधिक विशाल हैं।

यहां के मनीषी दार्शनिकों ने आत्मा और परमात्मा, लोक और कर्म, पाप और पुण्य आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर बड़ी गम्भीरता से चिन्तन, मनन और विवेचन किया है।

कर्म-सिद्धान्त

युवाचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में—

"अध्यात्म की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त के बिना नहीं की जा सकती। इसलिए यह एक महान् सिद्धांत है। इसकी अतल गहराइयों में डुबकी लगाना उस व्यक्ति के लिये अनिवार्य है जो अध्यात्म के अंतस् की ऊष्मा का स्पर्श चाहता है।[1]"

जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उस अर्थ में अथवा उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य दर्शनों में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है— माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य, आदि।

'माया, अविद्या और प्रकृति शब्द' वेदान्त दर्शन में उपलब्ध हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। 'वासना' शब्द बौद्ध दर्शन में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। 'आशय' शब्द विशेषत: योग और सांख्य दर्शन में उपलब्ध है। 'धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार' शब्द न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे शब्द हैं जिन का साधारणतया सब दर्शनों में प्रयोग किया गया है।[2]"

जैन और दर्शनों में कर्मवाद का विचित्र समन्वय मिलता है। प्रसिद्ध जैयाचार्य देवेन्द्रसूरि[3] कर्म की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

कर्म की परिभाषा (जैन-दर्शन)

"जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।" पं० सुखलालजी[4] कहते हैं—

*शोध-छात्र, गली आर्यसमाज, हांसी—१२५०३३ (हिसार)

"मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो कुछ किया जाता है, वही कर्म कहलाता है।'

'जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म-योग्य पुद्‌गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है।'

"आत्मा की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकाश-प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्‌गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों से संश्लिष्ट हो जाते हैं उन्हें कर्म कहते हैं।

'जैन लक्षणावली' के अनुसार—"अंजनचूर्ण से परिपूर्ण डिब्बे के समान सूक्ष्म व स्थूल आदि अनन्त पुद्‌गलों से परिपूर्ण, लोक में कर्मरूप में परिणत होने योग्य नियत पुद्‌गल जीव-परिणाम के अनुसार बन्ध को प्राप्त होकर ज्ञान-दर्शन के घातक (ज्ञानावरण व दर्शनावरण तथा सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, आयु, नाम, उच्च व नीच गोत्र और अन्तराय रूप) पुद्‌गलों को कर्म कहा जाता है।"[1]

प्रातंजल योगदर्शन में कर्माशय

महर्षि पतंजलि लिखते हैं—

'क्लेशमूलक कर्माशय—कर्म-संस्कारों का समुदय वर्तमान और भविष्य—दोनों ही जन्मों में भोगा जाने वाला है।'[2]

कर्मों के संस्कारों की जड़—अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पांच क्लेश हैं। यह क्लेशमूलक कर्माशय जिस प्रकार इस जन्म में दुःख देता है, उसी प्रकार भविष्य में होने वाले जन्मों में भी दुःखदायक है।

जब चित्त में क्लेशों के संस्कार जमे होते हैं, तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इन रजोगुण का जब सत्त्व गुण के साथ मेल होता है, तब ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस रजोगुण का जब तमोगुण से मेल होता है तब उसके उल्टे अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही दोनों प्रकार के कर्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य या शुक्ल-कृष्ण कहलाते हैं।

आठ कर्म प्रकृतियां (जैन दर्शन)

जिस रूप में कर्म-परमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं, और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तथा जिन कार्यों से बद्ध जीव संसार भ्रमण करते हैं, वे आठ हैं[3]—

१. ज्ञानावरणीय—यह कर्म जीव की अनन्त ज्ञान-शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है।

२. दर्शनावरणीय—यह कर्म जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

३. मोहनीय—यह कर्म आत्मा की सम्यक् श्रद्धा को रोकता है।

४. अन्तराय—यह कर्म अनन्त वीर्य को प्रकट नहीं होने देता।

५.वेदनीय—यह कर्म अव्याबाध सुख को रोकता है।

६. आयुष्य—यह कर्म अटल-अवगाहन— शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता।

७. नाम—यह कर्म अरूप अवस्था को नहीं होने देता।

८. गोत्र—यह कर्म अगुरुलघु भाव को रोकता है।

घाति और अघाति कर्म

घाति कर्म—जो कर्म आत्मा के साथ बन्द कर उसके स्वाभाविक गुणों की घात करते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय घाति कर्म हैं।[९]

अघाति कर्म—जो आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुंचाते जैसे—वेदनीय, आयुष्य, नाम गोत्र ये अघाति कर्म हैं।[१०] वेदनीय कर्म दो प्रकार का होता है—सातावेदनीय और असातावेदनीय। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—१. नरकायुष्य २. तिर्यञ्चायुष्य ३. मनुष्यायुष्य ४. देवायुष्य। नाम कर्म दो प्रकार का होता है—१. शुभ और २. अशुभ। गोत्र कर्म के दो भेद हैं—१. उच्च गोत्र और २. नीच गोत्र।[११]

विपाक—जाति, आयु और भोग (योगदर्शन)

जब तक क्लेश रूप जड़ विद्यमान रहती है, तब तक कर्माशय का विपाक अर्थात् फल—जाति, आयु और भोग होता है।[१२]

जाति—मनुष्य, पशु, देव आदि जाति कहलाती है।

आयु—बहुत काल तक जीवात्मा का एक शरीर के साथ सम्बन्ध रहना आयु पद का अर्थ है।

भोग—इन्द्रियों के विषय—रूप-रसादि भोग शब्दार्थ हैं।

क्लेश जड़ है। उन जड़ों से कर्माशय का वृक्ष बढ़ता है। उस वृक्ष में जाति, आयु और भोग—तीन प्रकार के फल लगते हैं। कर्माशय वृक्ष उसी समय तक फलता है, जब तक अविद्यादि क्लेश रूपी उसकी जड़ विद्यमान रहती है।

योगदर्शन में—जाति, आयु और भोग भी जैन कर्मवाद के वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र के समान सुख और दुःख फल देने वाले हैं।

बन्ध का स्वरूप

जीव और कर्म के संश्लेष को बन्ध कहते हैं।[१३] जीव अपनी वृत्तियों से कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का संयोग ही बन्ध कहलाता हैं।[१४]

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती लिखते हैं—

'जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बन्धता है, वह भाव-बन्ध है, तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का प्रवेश—एक दूसरे में मिल जाना—एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्य

बन्ध है।"[१५]

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं—'जीव कषाय के कारण कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यह बन्ध है, वह जीव की अस्वतन्त्रता का कारण है।"[१६]

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जीव और कर्म के इस संश्लेष को दूध और जल के उदाहरण से समझा जा सकता है।[१७]

योग और कषाय—बन्ध के हेतु

दूसरे रूप में—"योग प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध का हेतु है तथा कषाय स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध का हेतु है।"[१८] इस प्रकार योग और कषाय—ये दो बन्ध के हेतु बनते हैं।

तीसरी दृष्टि से—"मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये बन्ध के हेतु हैं।"[१९] इन चार बन्ध-हेतुओं से सत्तावन भेद हो जाते हैं।[२०]

धर्मशास्त्र—आगम में प्रमाद को भी बन्ध-हेतु कहा है। श्री उमास्वाति ने[२१] पांच बन्ध-हेतु माने हैं,—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

इस प्रकार जैन-दर्शन में बन्ध-हेतुओं की संख्या पांच आस्रवों के रूप में मान्य है।

समन्वय—कर्म-बन्ध के हेतुओं की दृष्टियों का समन्वय इस प्रकार किया गया है—"प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है। इसलिये वह अविरति या कषाय में आ जाता है। सूक्ष्मता से देखने से मिथ्यात्व और अविरति—ये दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं। इसलिये कषाय और योग—ये दो ही बन्ध के हेतु माने गए हैं।"[२२]

कर्म-बन्ध के हेतु

पांच आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध-हेतु हैं।[२३]

जैन धर्म-शास्त्रों—आगमों में कर्मबन्ध के दो हेतु कहे गए हैं—१. राग और २. द्वेष। राग और द्वेष कर्म के बीज हैं।[२४]

जो भी पाप कर्म हैं, वे राग और द्वेष से अर्जित होते हैं।[२५]

टीकाकार ने राग से माया और लोभ को ग्रहण किया है, और द्वेष से क्रोध और मान को ग्रहण किया है।[२६]

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! जीव कर्म प्रकृतियों का बन्ध कैसे करते हैं?" भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव दो स्थानों से कर्मों का बन्ध करते हैं—एक राग से और दूसरे द्वेष से। राग दो प्रकार का है—माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है—क्रोध और मान।"[२७]

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों का संग्राहक शब्द कषाय है। इस प्रकार एक कषाय ही बन्ध का हेतु होता है।

बन्ध के मूल कारण

योग-दर्शन में सब बन्धनों और दुःखों के मूल कारण पांच क्लेश हैं[']—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पांचों बाधा रूप पीड़ा को पैदा करते हैं। ये चित्त में विद्यमान रहते हुए संस्कार रूप गुणों के परिणाम को दृढ़ करते हैं। इसलिए इनको क्लेश के नामों से पुकारा जाता है।

सांख्य दर्शन की भाषा में इन पांचों—अविद्या को तमस्, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र और अभिनिवेश को अन्धतामिस्र के नामों से अभिहित किया गया है।['']

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—'मूढ़ आत्मा जिसमें विश्वास करता है, उससे अधिक कोई भयानक वस्तु नहीं। मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, उससे बढ़कर शरण देने वाली कोई वस्तु इस संसार में नहीं है।['']

भयंकर वस्तु में विश्वास करना और अभयदान करने वाली वस्तुओं से दूर भागना—यह उस समय होता है जब आत्मा मूढ़ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, अविद्या, अज्ञान और मोह से व्यक्ति ग्रसित हो।

मिथ्यात्व और अविद्या

मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो कि सम्यग्दर्शन से उलटा होता है। जो बात जैसी हो, उसे वैसी न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व—विपरीत तत्त्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं['']:—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा।	६. जीव में अजीव संज्ञा।
२. धर्म में अधर्म संज्ञा।	७. असाधु में साधु संज्ञा।
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा।	८. साधु में असाधु संज्ञा।
४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा।	९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा।
५. अजीव में जीव संज्ञा।	१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना अविद्या का सामान्य लक्षण है।

अविद्या के पाद

योग-दर्शन के अनुसार पशु के तुल्य अविद्या के भी चार पाद हैं['']—

१. अनित्य में नित्य का ज्ञान।	३. दुःख में सुख का ज्ञान।
२. अपवित्र में पवित्रता का ज्ञान।	४. अनात्म (जड़) में आत्म-ज्ञान।

अविरति—विरति का अभाव, व्रत या त्याग का अभाव, दोषों से विरत न होना, पौद्गलिक सुखों के लिये व्यक्त या अव्यक्त पिपासा।

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किये हैं—

१. अद्रस् मन (Id)

२. अहं मन (Ego)

३. अधिशास्ता मन (Super Ego)

अदस मन (Id)—इसमें आकांक्षाएं पैदा होती हैं, जितनी प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं, वे सभी इसी मन में पैदा होती हैं।

अहं मन (Ego)—समाज-व्यवस्था से जो नियन्त्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएं यहां नियन्त्रित हो जाती हैं और वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अंकुश जैसा लग जाता है। अहं मन इच्छाओं को क्रियान्वित नहीं करता।

३. **अधिशास्ता मन** (Super Ego)—यह अहं पर भी अंकुश रखता है, और उसे नियन्त्रित करता है। अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह। सुख-सुविधा को पाने की और कष्ट को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आन्तरिक चाह है, आकांक्षा है— इसे कर्मशास्त्र की भाषा में अविरति आस्रव कहा है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में अदस् मन (Id) कहा गया है।

कषाय—राग और द्वेष

उमास्वाति कहते हैं—'कषाय भाव के कारण जीव कर्म के योग्य पुद्‌गलों का ग्रहण करता है, वह बन्ध कहलाता है।'[१]

आत्मा में राग या द्वेष भावों का उद्दीप्त होना ही कषाय है। राग और द्वेष—दोनों कर्म के बीज हैं।[१] जैसे दीपक अपनी ऊष्मा से बत्ती के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर (लौ) के रूप में बदल लेता है, वैसे ही यह आत्मा रूपी दीपक अपनी राग भाव रूपी ऊष्मा के कारण क्रियाओं रूपी बत्ती के द्वारा कर्म-परमाणुओं रूपी तेल को आकर्षित कर उसे अपने कर्म शरीर रूपी लौ में बदल देता है।[१]

राग-क्लेश—सुख भोगने की इच्छा राग है[१]— जीव को जब कभी जिस किसी अनुकूल पदार्थ में सुख की प्रतीति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तों में उसकी आसक्ति—प्रीति हो जाती है, उसी को राग कहते हैं।

वाचकवर्य श्री उमास्वाति कहते हैं— इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममता, अभिनन्दन, प्रसन्नता और अभिलाषा आदि अनेक राग भाव के पर्यायवाची शब्द हैं।[१]

द्वेष-क्लेश—पातंजल योग-दर्शन में लिखा है कि दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है उसे द्वेष कहते है।[१] जिन वस्तुओं अथवा साधनों से दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा या क्रोध हो, उनके जो संस्कार चित्त में पड़ें, उसे द्वेष-क्लेश कहते हैं।

प्रशमरति में लिखा है— ईर्ष्या, रोष, द्वेष, दोष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर, प्रचण्डन आदि शब्द द्वेष भाव के पर्यायवाची शब्द हैं।[१]

प्रमाद, अस्मिता और अभिनिवेश का समावेश भी राग-द्वेष में हो जाता है।

संदर्भ :

१. कर्मवादः—प्रस्तुति—युवाचार्य महाप्रज्ञ

२. पं० सुखलालजी कृत कर्मविपाक, प्रस्तावना, पृ० २३.

३. कर्म विपाक (कर्मग्रन्थ प्रथम),१ : कीरइ जिएण हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं।
४. दर्शन और चिन्तन, पृष्ठ २२५, पं० सुखलालजी
५. (क) विसय कसायहिं रंगियहं जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहं मोहियहं ते जिण कम्मं भणंति॥ परमात्म-प्रकाश, १/६२
(ख) जैन सिद्धान्त दीपिका,-४.१, आचार्य तुलसी—
आत्मनः सदसत्प्रवृत्त्याऽऽकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म।
६. जैन लक्षणावली (द्वितीय भाग) पृष्ठ ३१६ (कर्म प्रकृति) चूर्णि-१, पृष्ठ २ : अंजन चुण्णपुण्ण समुग्गगोव्व सुहमथूलादि—अणेगविह परिणएहिं अणंतेहिं पोग्गलेहिं णिरंतर णिचितेलोगे परिच्छिणा एव पोग्गला कम्मपरिणमणजोगा बंधमाण जीव परिणाम पच्चएण बद्धा णाणादिलद्धिघातिणो सुहदुक्खसुहासुहाउनाम-उच्चाणी योगायंतराय पोग्गला कम्मं ति वुच्चति।
७. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। पातंजल योग दर्शन, २. १२
८. (क) उत्तराध्ययन, ३३.१-३; (ख) ठाणाङ्ग, ८.३.५६६; (ग) प्रज्ञापना, २३. १।
९. गोम्मटसार (कर्म काण्ड), ६
१०. (क) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ६; (ख) पंचाध्यायी, २, २६६
११. नामं कम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।
गोयं कम्मं तु दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं। उत्तराध्ययन, ३३/१३-१४
१२. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः—पातंजल योगदर्शन, २. १३
१३. उत्त० २८. १४, नेमिचन्द्रीय टीका:—बन्धश्च—जीवकर्मणोः संश्लेषः।
१४. ठाणाङ्ग, १. ४. ६ की टीका : बन्धनं बन्धः सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यत् स बन्ध इति भावः।
१५. बज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भावबन्धो सो।
कम्मादपदे साणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ द्रव्य संग्रह, २. ३२
१६. सकषायतया जीवः कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते सः बन्धः स्याज्जीवास्वातंत्र्य कारणम्॥ नवतत्त्व साहित्यसंग्रह : गा०१३३
१७. तत्त्वार्थ; १.४, सर्वार्थसिद्धि।
१८. ठाणाङ्ग २ : ४ : ९६ : जोगा पयडिपदेसं ठिति अणु भागं कषायओ कुणइ।
१९. ठाणाङ्ग, २. ४. ९६, : मिथ्यात्वाविरति कषाय योगा बन्धहेतवः।
२०. मिच्छत्तमविरई तह, कषायजोगा य बंधहेउ त्ति।
एवं चउरो मूले, भेएण उ सत्तवण्णत्ति॥ नवतत्त्व प्रकरण गा० १२
२१. तत्त्वार्थ, ८. १
२२. तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती तृ० आ०), पृ० ३२२-३२३.
२३. (क) ठाणाङ्ग २. ४. ९६ (ख) समवायाङ्ग, समवाय २.
२४. उत्तराध्ययन, ३२.७ : रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।
२५. उत्तराध्ययन, ३०. १ : जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं।

२६. ठाणाङ्ग २. ४. ९६, टीका—

राग़ो मायालोभकषायलक्षण : द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षण: यदाह—

मायालोभ कषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञिद्वन्द्वम् ।

क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्ट: ॥

२७. प्रज्ञापना २३. १. ३.

२८. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ —पातञ्जल योगदर्शन, २ : ३.

२९. तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः ।

अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता ॥

३०. मूढात्मा यत्र विश्वस्त:, ततो नान्यद् भयास्पदम् ।

यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मन: ॥ —आचार्य पूज्यपाद

३१. दसविहे मिच्छत्ते अधम्मे धम्म सन्ना, धम्मे अधम्मे सन्ना, अमग्गे मग्ग सन्ना, मग्गे अमग्ग सन्ना, अजीवेसु जीव सन्ना, जीवेसु अजीव सन्ना, असाहुसु साहु सन्ना, साहुसु असाहु सन्ना, अमुत्तेसु मुत्त सन्ना, मुत्तेसु अमुत्त सन्ना । —ठाणांग, ठाणा १०

३२. अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्याशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

—पातंजल योगदर्शन, २/५.

३३. सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुदगलानादत्ते ।

स बन्ध: । तत्त्वार्थ सूत्र, ८/२-३.

३४. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं । —उत्तराध्ययन ३२ : ७

३५. तत्त्वार्थ टीका, भाग-१

३६. सुखानुशयी राग : —पातञ्जल योगदर्शन,२:७

३७. इच्छा, मूर्च्छा, काम:, स्नेहो, गार्ध्यं, ममत्वमभिनन्द: ।

अभिलाप, इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥ —प्रशमरति,१८, उमास्वाति

३८. दु:खानुशयी द्वेप: । २:८, पातंजल योगदर्शन ।

३९. ईर्ष्या, रोपो, दोप:, द्वेष, परिवादमत्सरासूया: ।

वैर प्रचण्डनाद्या नैके द्वेपस्य पर्याया: ॥ —प्रशमरति, १९, उमास्वाति

□

जैन-दर्शन और योग-दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

□ रतनलाल जैन

(गतांक से आगे)

चार कषायों के बावन नाम

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। समवाओ में चार कषाय रूप मोह के ५२ नाम[11] कहे गए हैं, जिनमें क्रोध के दस, मान के ग्यारह, माया के सत्रह और लोभ के चौदह नाम बताए गए हैं—

क्रोध—१. क्रोध, २. कोप, ३. रोष, ४. दोष, ५. अक्षमा, ६. संज्वलन, ७. कलह, ८. चांडिक्य (चंडयन), ६. भंडण और १०. विवाद।

मान—१. मान, २. मद, ३. दप, ४. स्तम्भ, ५ आत्मोत्कर्ष, ६. गर्व, ७. पर-परिवाद, ८. आक्रोश, ६. अपकर्ष (परिभव), १०. उन्नत और ११. उन्नाम।

माया—१. माया, २. उपधि, ३. निकृति, ४. वलय, ५. ग्रहण, ६. न्यवम, ७. कल्क ८. कुरूक, ६. दम्भ, १०. कूट, ११. वक्रता (जैहम), १२. किल्विष, १३. अनादरता, १४. गूहनता, १५. वंचनता, १६. परिकुंचनता, १७. सातियोग।

लोभ—१. लोभ, २. इच्छा, ३. मूर्च्छा, ४. कांक्षा, ५. गृद्धि, ६. तृष्णा, ७. भिध्या, ८. अभिध्या, ६. कामाशा, १०. भोगाशा, ११. जीविताशा, १२. मरणाशा, १३. नन्दी और १४. राग।

आस्रव और कर्माशय

आस्रव—काय, वचन और मन की क्रिया योग है।[12] वही कर्म का सम्बन्ध कराने वाला होने के कारण आस्रव कहलाता है।[13] कषाय-सहित और कषाय-रहित आत्मा का योग क्रमशः साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म का बन्ध-हेतु—आस्रव होता है।[14] जिन जीवों में क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों का उदय हो, वे कषायसहित और जिनमें इनका उदय न हो, वे कषायरहित हैं। पहले से दसवें गुणस्थान तक के जीव न्यूनाधिक मात्रा में कषायसहित हैं और ग्यारहवें आदि आगे के गुणस्थानों वाले जीव कषायरहित हैं।

कर्माशय—क्लेशमूल

पांच क्लेश जिसकी जड़ है ऐसी कर्म की वासना वर्तमान और भविष्य में होने वाले—दोनों जन्मों में भोगा जाने योग्य है।[15] ये क्लिष्ट (तम प्रधान), अक्लिष्ट

(सत्व प्रधान) दो रूप में हैं। जिन महान् योगियों ने क्लेशों को निर्बीज समाधि द्वारा उखाड़ दिया है, उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासनारहित केवल कर्त्तव्यमात्र रहते हैं, इसलिए उनको इनका फल भोग्य नहीं है। जब क्लेशों के संस्कार चित्त में जमे होते हैं, तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं।

शुभ-अशुभ आस्रव— पुण्य-पाप कर्म

शुभ योग पुण्य का बन्ध-हेतु है[१६] और अशुभ योग पाप का बन्ध-हेतु है[१६]। पुण्य का अर्थ है, जो आत्मा को पवित्र[२०] करे। अशुभ — पाप कर्मों से मलिन हुई आत्मा क्रमशः शुभ कर्मों का—पुण्य कर्मों का अर्जन करती हुई पवित्र होती है, स्वच्छ होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं— "जिसके मोह-राग-द्वेष होते हैं उसके अशुभ परिणाम होते है, जिसका चित्त प्रसाद—निर्मल चित्त होता है, उसके शुभ परिणाम होते हैं। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप हैं। शुभ-अशुभ परिणामों से जीव के जो कर्म-वर्गणा योग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है, वह क्रमशः द्रव्य-पुण्य और द्रव्य-पाप है।"[११]

योगदर्शन के अनुसार "वे जन्म, आयु और भोग— सुख-दुःख फल के देने वाले होते हैं, क्योंकि उनके पुण्य कर्म और पाप कर्म — दोनों ही कारण हैं।"[२२]

आठ कर्मों में पुण्य-पाप प्रकृतियां

प्रत्येक आत्मा में सत्तारूप से आठ गुण विद्यमान हैं—

१. अनन्त ज्ञान	५. आत्मिक सुख
२. अनन्त दर्शन	६. अटल अवगाहन
३. क्षायक सम्यक्त्व	७. अमूर्तिकत्व
४. अनन्त वीर्य	८. अगुरुलघु भाव

कर्मावरण के कारण ये गुण प्रकट नहीं हो पाते। जीव द्वारा बांधे जाने वाले आठ कर्म हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये ही क्रमशः आत्मा के आठ गुणों को प्रकट होने नहीं देते।

कर्मों की मूल प्रकृतियों, उत्तर प्रकृतियों में पुण्य-पाप का विवेचन निम्न प्रकार मिलता है—

मूल प्रकृतियां	उत्तर प्रकृतियां	पाप[२३] प्रकृतियां	पुण्य प्रकृतियां[२४]
१. ज्ञानावरणीय	५	५	×
२. दर्शनावरणीय	९	९	×
३. वेदनीय	२	१ (असात)	१ (सात)
४. मोहनीय	२८	२६	×
५. आयुष्य	४	१ (नरक)	(देव, मनुष्य, तिर्यंच)
६. नाम	४२	३४	३७
७. गोत्र	२	१ (नीच)	१ (उच्च)
८. अन्तराय	५	५	×
	९७	८२	४२

पुण्य शुभ कर्म है, अतः अकाम्य—हेय है

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पाप होता है, अतः हमें वह नहीं चाहिए।"[25]

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"अशुभ कर्म कुशील है—बुरा है और शुभ कर्म सुशील है—अच्छा है, ऐसा जगत् मानता है। परन्तु जो प्राणी को संसार में प्रवेश कराता है, वह शुभ कर्म सुशील—अच्छा कैसे हो सकता है। जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की भी बांधती हैं, उसी तरह शुभ और अशुभ कृत कर्म जीव को बांधते हैं। अतः जीव ! तू दोनों कुशीलों से प्रीति अथवा संसर्ग मत कर। कुशील के साथ संसर्ग और राग से जीव की स्वाधीनता का विनाश होता है। जो जीव परमार्थ से दूर हैं, वे अज्ञान से पुण्य को अच्छा मानकर उसकी कामना करते हैं। पर पुण्य संसार-गमन का हेतु है अतः तू पुण्य कर्म में प्रीति मत कर।"[26]

पुण्य काम्य नहीं है। पुण्य की कामना पर-समय है।

योगीन्दु कहते हैं—"वे पुण्य किस काम के जो राज्य देकर जीव को दुःख-परम्परा की ओर ढकेल दें। आत्मदर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे—वह अच्छा नहीं है।"[27]

सुखप्रद कर्माशय भी दुःख है

महर्षि पतंजलि लिखते हैं—"परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख—ये तीन प्रकार के दुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष के लिए सब-के-सब कर्मफल दुःख रूप ही हैं।"[28] परिणाम दुःख, जो कर्म विपाक भोगकाल में स्थूल दृष्टि से सुखद प्रतीत होता है, उसका परिणाम दुःख ही है। जैसे स्त्री-प्रसंग के समय मनुष्य को सुख भासता है, परंतु उसका परिणाम—बल, वीर्य, तेज, स्मृति आदि का ह्रास प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसी प्रकार दूसरे भोगों में भी समझ लेना चाहिए।

गीता में भी कहा है—"जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के सदृश भासता है, परन्तु परिणाम में विष के तुल्य है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।"[29]

विवेकी पुरुष परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख तथा गुणवृत्तियों के विरोध से होने वाले दुःख को विवेक के द्वारा समझता है, उसकी दृष्टि में सभी कर्म-विपाक दुःख रूप हैं। साधारण जन-समुदाय जिन भोगों को सुखरूप समझता है, विवेकी के लिए वे भी दुःख ही हैं।

गीता में लिखा है—"इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले जितने भी भोग हैं, वे सब के सब दुःख के ही कारण हैं।"[30] ज्ञानी कहते हैं—कामभोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं, जहर के सदृश हैं।[31]

संवर — आस्रव का निरोध, योग—चित्तवृत्ति का निरोध

संवर

वाचक उमास्वाति[11] लिखते है—आस्रव-द्वार का निरोध करना संवर है"। आचार्य पूज्यपाद[12] लिखते हैं—"जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिये द्वार रूप है, वह आस्रव है, जिसका लक्षण आस्रव का निरोध करना है, वह संवर है।"आचार्य हेमचन्द्र[13] सूरि का कथन है—"जो सर्व आस्रवों के निरोध का हेतु है, उसे संवर कहते हैं।" जिस तरह नौका में छिद्रों से जल प्रवेश पाता है और छिद्रों को रूंध देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही योगादि-आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्म-द्रव्यों का प्रवेश नहीं होता[14]।

द्रव्य-संवर और भाव-संवर—

ये दो भेद श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ग्रन्थों में मिलते हैं। इन की निम्न परिभाषाएं मिलती हैं।

योग — चित्तवृत्तियों का निरोध

महर्षि पतंजलि लिखते हैं "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध :"[15] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है। चित्त की वृत्तियां जो बाहर को जाती हैं, उन बहिर्मुख वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटा कर उनसे उल्टा अर्थात् अन्तर्मुख करके अपने कारण-चित्त में लीन कर देना योग है।

चित्त मानो अगाध परिपूर्ण सागर का जल है। जिस प्रकार वह पृथिवी के सम्बन्ध से खाड़ी, झील आदि के आन्तरिक तदाकार परिणाम को प्राप्त होता है, उसी प्रकार चित्त आन्तर—राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय-आदि रूप आकार से परिणत होता रहता है तथा जिस प्रकार वायु आदि के वेग से जलरूपी तरंग उठती है, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से आकर्षित होकर उन जैसे आकारों में परिणत होता रहता है। ये सब चित्त की वृत्तियां कहलाती है, जो अनन्त हैं और प्रतिक्षण उदय होती रहती है।

वृत्तियां सामान्यतः दो प्रकार की हैं—क्लिष्ट अर्थात् रागद्वेषादि क्लेशों की हेतु, और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों को नाश करने वाली।"[16] उनके पांच प्रकार इस प्रकार हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति'।[17]

पांच महाव्रत एवं पांच सार्वभौम यम

जैन दर्शन में आत्म-साधना—आस्रव-निरोध के लिये पांच महाव्रतों[18] की पालना के लिये पांच सार्वभौम यमों की प्रतिष्ठा की गई है।

हिंसा, सत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह[19] से (मन, वचन और काय द्वारा) निवृत्त होना व्रत है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच यम हैं। मन से, वचन से और शरीर से (कर्म से) सभी प्राणियों की किसी प्रकार से (करने, कराने अनुमोदन करने) हिंसा— कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है।"

भगवान् महावीर ने कहा है— हे मानव ! तू दूसरे जीवों की आत्मा को भी अपनी ही आत्मा के समान समझकर हिंसा कार्य में प्रवृत्त न हो...। हे पुरुष ! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर, वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है। जो हिंसा करता है, उसका फल बाद में वैसा ही भोगना पड़ता है। अतः मनुष्य किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे।"[२]

इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— महाव्रतों, यमों की तीन करण व तीन योग— मन, वचन और काय से पालना करनी चाहिये।

निर्जरा के बारह भेद— अष्टांग योग

भगवान् महावीर ने कहा है— जिस प्रकार जल आने के मार्ग को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रव— पाप कर्म के प्रवेश— मार्गों को रोक देने वाले संयमी पुरुष के करोड़ों जन्मों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।"[३] निर्जरा— तप के बारह[४] (छह बहिरंग और छह अभ्यन्तर) अंग है—

१. अनशन— उपवास— आदि तप
२. ऊनोदरी— कम खाना, मिताहार
३. भिक्षाचरी— जीवन-निर्वाह के साधनों का संयम
४. रस-परित्याग— सरस आहार का परित्याग
५. कायक्लेश— आसनादि क्रियाएं
६. प्रतिसंलीनता— इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना
७. प्रायश्चित्त— पूर्व भव कृत दोष विशुद्ध करना।
८. विनय— नम्रता
९. वैयावृत्य— साधकों को सहयोग देना
१०. स्वाध्याय— पठन-पाठन
११. ध्यान— चित्तवृत्तियों को स्थिर करना।
१२. व्युत्सर्ग— शरीर की प्रवृत्ति को रोकना।

अष्टांग योग

महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है— "योग के अंगों का अनुष्ठान करने से— आचरण करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक प्राप्त हो जाता है।"[५] योग-दर्शन में योग के आठ अंग माने गए हैं :—

यम— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये पांच यम हैं।[६]
नियम— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान— ये पांच नियम हैं।[७]
आसन— निश्चल— हलन-चलन से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।
प्राणायाम— श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है।
प्रत्याहार— अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप

में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है।

धारणा—किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है।

ध्यान—चित्त में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।

समाधि—जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की प्रतीति होती है, और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वही ध्यान समाधि हो जाता है।

केवलज्ञान

वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"मोह कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है।"[४] प्रतिबन्धक कर्म चार हैं, इन में से प्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होताहै, तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद ही ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय—इन तीन कर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल उपयोग—सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध प्राप्त होता है। यही स्थिति सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की है।

विवेकजन्य तारक ज्ञान

महर्षि पतंजलि लिखते हैं—"जो संसार समुद्र से तारने वाला है, सब विषयों को, सब प्रकार से जानने वाला है, और बिना क्रम के जानने वाला है, वह विवेकजनित ज्ञान है।"[५] बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की जब समभाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य होता है।[६] इस प्रकार बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।[७]

संदर्भ :

१३. समवाओ, ५२ : मोहणिज्जस्सणं कम्मस्स बावन्नं नामधेज्जा पन्नत्ता, तं जहा—कोहे १, कोवे २, रोसे ३, दोसे ४, अखमा ५, संजलणे ६, कलहे ७, चंडिक्के ८, भंडणे ९, विवाए १०, माणे ११, मदे १२, दप्पे १३, थंभे १४, अत्तुक्कोसे १५, गव्वे १६, परपरिवाए १७, अक्कोसे १८, अवक्कोसे (परिभवे) १९, उन्नए २०, उन्नामे २१, माया २२, उवही २३, नियडी २४, वलए २५, गहणे २६, णूमे २७, कक्के २८, कुरूए २९, दंभे ३०, कूडे ३१, जिम्हे ३२, किब्बिसिए ३३, अणायरणया ३४, गूहणया ३५, वंचणया ३६, पलिकुंचणया ३७, सातिजोगे ३८, लोभे ३९, इच्छा ४०, मुच्छा ४१, कंखा ४२, गेही ४३, तिण्हा ४४, भिज्जा ४५, अभिज्जा ४६, कामासा ४७, भोगासा ४८, जीवियासा ४९, मरणासा ५०, नन्दी ५१, रागे ५२

१४. कायवाङ्मनःकर्म योगः। तत्त्वार्थ सूत्र, ६।१

१५. स आस्रवः। तत्त्वार्थ सूत्र, ६।२

१६. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः। तत्त्वार्थ सूत्र, ६।५

१७. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। पातंजल योगदर्शन, २.१२

१८. तत्त्वार्थ सूत्र —शुभः पुण्यस्य, ६।२, अशुभ पापस्य, ६.३

२०. पुण्यं नाम पुनाति आत्मानं पवित्रीकरोति पुण्यम्।

२१. पञ्चास्तिकाय, २।१३१-१३२ :

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामा ।।
सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावोकम्मत्तणं पत्तो ।।

२२. पातंजल योगदर्शन, २।१४ : ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।

२३. नवतत्त्व साहित्य संग्रह : देवगुप्तसूरि, नवतत्त्व प्रकरण, गाथा ८ :

नाणंतरायदसगं दंसणनव मोहपयइ छव्वीसं ।
नामस्स चउत्तीसं, तिहग एक्केक पावाओ ।।

२४. वही - ७ : सायं उच्चगोयं सत्तत्तीसं तु नाम पगईओ ।
तिन्नि य आऊणि तहा बायालं पुन्नपगईओ ।।

२५. पुण्णेण होई विहवो, विहवेणमओ, मएण मइमोहो ।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ ।। २.६०

२६. (क) समयसार ३ : १४५-१४७,१५४,१५०
(ख) पंचास्तिकाय, १६५-१६६,१७५

२७. परमात्म-प्रकाश वृत्ति, ५७-५८

२८. परिणामतापसंस्कारदुखैर्गुणावृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।
पातंजल योगदर्शन, २.१५

२९. विषयेन्द्रियसंयोगद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। गीता, १८.३८

३०. ये हि संसर्गजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। गीता, ५.२२।।

३१. उत्तराध्ययन ९.५३—सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसी विसोवमा ।

३२ तत्त्वार्थ सूत्र, ९.१ आस्रवनिरोध : संवर ।

३३. तत्त्वार्थ – १.४. सर्वार्थसिद्धि : शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रव :, आस्रवनिरोध-लक्षण संवर : ।

३४. नवतत्त्व साहित्य संग्रह, १११, सर्वषामाश्रयाणां यो रोधहेतु : सः संवरः ।

४५. वही १२१-१२२, : यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम्,
कृते रन्ध्र पिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत् ।।
योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेवं रुद्धेषु सर्वत : ।।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे संवरशालिनि ।।
—सप्ततत्त्व-प्रकरणम्, १२१-१२२

३६. पातंजल योग-दर्शन, १.२.

३७. वही, १.५ : पातंजल योग-दर्शन :-वृत्तय : पञ्चतय्य : क्लिष्टाक्लिष्टा : ।

३८. वही, १६.: प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय : ।

३९. हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम् । तत्त्वार्थ, ७.१

४०. योगदर्शन—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा : ॥

४१. कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभि : ॥

४२. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि... ।
घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए ॥ —आचारांग सूत्र १,५।५.५

४३. उत्तराध्ययन, ३०.५-६ : जहामहातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्म निरासवे ।
भवकोडि संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

४४. उत्तराध्ययन, ३०.८,३० : अणसणमूणोयरिया, य भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया, य बुज्झो तवो होइ ॥
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, ऐसो अभिन्तरो तवो ॥

४५. योगाङ्गानुष्ठानात् शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरविवेकख्यातेः ।—पातञ्जल योगदर्शन, २.२८

४६. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । वही २.२६,

४७. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । योगदर्शन, २.३२.

४८. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । तत्त्वार्थ, १०.१

४९. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।—पातंजल योगदर्शन, ३:५४.

५०. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् । वही, ३:५५.

५१. तत्त्वार्थ सूत्र –१०.२-३ः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ।

वर्ष-2, अंक-2, मार्च-90, 27-37

अर्हत्‌वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

कर्म की विचित्र गति-मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

☐ रतनलाल जैन*

'कर्म'[1] भारतीय दर्शन का एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। उस पर लगभग सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनों ने विमर्श प्रस्तुत किया है। पूरी तटस्थता के साथ कहा जा सकता है कि इस विषय का सर्वाधिक विकास जैन दर्शन में हुआ है।'

—युवाचार्य महाप्रज्ञ**

कर्म की विचित्रता

महापुराण में कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्दों के बारे में लिखा है—

'विधि[2], स्रष्टा, विधाता, दैव, पुरा-कृतम और ईश्वर—ये कर्मरूपी ब्रह्मा के वाचक शब्द हैं।' इस प्रकार कर्म को ब्रह्मा के रूप में ही मान लिया गया।

नीति शतक में लिखा है कि कर्म तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी अनेक प्रकार से नाच, नचवाता है—

'जो कर्म ब्रह्मा जी को कुम्हार के समान ब्रह्माण्ड रूपी भांड में स्थापित करता है। जो भगवान् विष्णु को दस अवतारों के महान् और बड़े भारी संकट में डाल देता है और जो महादेव के हाथ में कपाल—फूटे हुए घड़े का आधा भाग, देकर उनसे भिक्षा के लिए भ्रमण कराता है, तथा जिसके प्रभाव से सूर्य निरन्तर आकाश में भ्रमण करता है, उस कर्म को नमस्कार हो।'[3]

जैनदर्शन में

मनुष्यों में ही शरीर, मन और बुद्धि आदि को लेकर असंख्य विभिन्नताएँ हैं।

(श्वे.) जैनाचार्य देवेन्द्रसूरि ने कर्म की विचित्रता-विविधता का इस प्रकार उद्घाटन किया है—

'राजा-रंक[1], सुन्दर-कुरूप, धनवान्-धनहीन, बलवान्-निर्बल, स्वस्थ-रोगी, भाग्यशाली-अभागा—इन सब में मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर—जो भेद दिखाई देता है, वह सब कर्म कृत है। और वह कर्म जीव के बिना नहीं हो सकता। कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है?'[4]

गौतम स्वामी ने पूछा—

'हे भगवन्! क्या जीव के सुख-दुःख तथा विभिन्न प्रकार की अवस्थाएँ कर्म की विभिन्नता-विचित्रता या विविधता पर निर्भर है, अकर्म पर तो नहीं'?[5]

भगवान् महावीर ने कहा—

---

* गली आर्य समाज, हाँसी-125 033 (हिसार)

** श्वेताम्बर जैन तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित युवाचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य तुलसी के शिष्य हैं। प्राकृत एवं जैनदर्शन के आप उद्‌भट विद्वान हैं।

'गौतम! संसार के जीवों के कर्मबीज भिन्न-भिन्न होने के कारण उनकी अवस्था या स्थिति में भेद है, अन्तर है। यह अकर्म के कारण नहीं है।'

'कर्मरूपी बीज के कारण ही संसारी जीवों में अनेक उपाधियाँ, विभिन्न अवस्थाएँ दिखायी देती हैं।'[6]

आत्मा को मणि की उपमा देते हुए यह सत्य प्रकट किया गया है—

'जिस प्रकार मल से आवृत्त मणि की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है, उसी प्रकार कर्मरूपी मल से आवृत्त आत्मा की, विविध-विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।'[7]

कर्म के कारण ही जीव संसार में पृथक-पृथक गोत्रों में, जातियों में या गतियों में उत्पन्न हो जाता है—

''इस संसार में विभिन्न प्रकार के कर्म-बन्धन के कारण प्राणी भिन्न-भिन्न गोत्रों में, जातियों में उत्पन्न होते हैं'।

'पूर्व जन्म-समय में किए कर्मों के अनुसार ही कितने ही जीव देवलोक में जाते हैं, अनेक नरक गति में और बहुत से असुर-निकाय में चले जाते हैं।'

कितने ही जीव क्षत्रिय बन जाते हैं, अनेक जीव चांडाल के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत-से कीड़ों-पतंगों का जन्म ग्रहण कर लेते हैं तथा अनेक कुंथु रूप में चींटी की तरह जन्म लेते हैं।'

'इस प्रकार इस कर्म के संयोग से मूढ बना एवं भारी वेदना और दुःख पाता हुआ यह जीव मनुष्य गति को छोड़कर अन्य (नरक-तिर्यंच-आदि) योनियों में दुःख-कष्ट भोगता रहता है।'[8]

बौद्ध दर्शन में—

राजा मिलिन्द ने पूछा—[9]

भगवन् नागसेन! ये जो पाँच आयतन—आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ी हैं, क्या ये अलग-अलग कर्मों के फल हैं, या एक ही कर्म के फल हैं?

—राजन! अलग-अलग कर्मों के फल हैं, एक ही कर्म के फल नहीं।

—कृपा करके उपमा द्वारा समझाइए।

—राजन्! यदि कोई मनुष्य एक खेत में पृथक-पृथक जाति के बीज बोये तो क्या अनेक प्रकार के बीजों का फल अनेक जाति का न होगा?

—हाँ भगवन्! अनेक प्रकार के बीजों का फल अनेक जाति का होगा।

—राजन्! इसी प्रकार ये पाँच आयतन हैं—ये पृथक-पृथक कर्मों के फल हैं। एक कर्म का फल नहीं।

—भंते! आपने ठीक फरमाया!

राजा मिलिन्द और स्थविर नागसेन के बीच हुए संवाद में जीवों की विविधता, विभिन्नता का कारण कर्म ही माना है—[10]

राजा मिलिन्द ने स्थविर नागसेन से पूछा—[11]

"भन्ते! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं होते—कोई अल्प-आयु वाला, कोई दीर्घ आयु वाला; कोई अधिक रोगी तो कोई निरोगी; कोई कुरुप तो कोई अति सुन्दर; कोई प्रभावहीन, कोई प्रभावशाली; कोई अल्पभोगी–निर्धन, कोई बहु भोगी–धनवान, कोई नीच कुल वाला, कोई ऊँचे कुल वाला, तथा कोई मूर्ख व कोई विद्वान क्यों होते हैं?"

स्थविर नागसेन ने प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा—

'राजन्! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नहीं होती—कोई खट्टी, कोई मीठी; कोई नमकीन, कोई तीखी, कोई कड़वी, कोई कसैली क्यों होती है?'

राजा मिलिन्द ने कहा—

'मैं समझता हूँ कि बीजों के भिन्न-भिन्न होने के कारण ही वनस्पति भी भिन्न-भिन्न होती है।'

नागसेन ने कहा—'राजन जीवों की विविधता का कारण भी उनका अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों के फल भोगते हैं। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार ही नाना गतियों और योनियों में उत्पन्न होते हैं।'

वैदिक दर्शन—

मनुस्मृति में लिखा है कि कर्म के कारण ही मनुष्य को उत्तम, मध्यम या अधम गति प्राप्त होती है—

'मन, वचन और शरीर के शुभ या अशुभ कर्म-फल के कारण मनुष्य की उत्तम, मध्यम या अधम गति होती है।'[12]

उन्होंने आगे कहा है—'शुभ कर्मों के योग से प्राणी देव योनि को प्राप्त होता है। मिश्र कर्मयोग से वह मनुष्य योनि में जन्मता है और अशुभ कर्मों के कारण वह तिर्यंच—पशु-पक्षी आदि योनि में उत्पन्न होता है।'[13]

विष्णु पुराण में कहा गया है—'हे राजन् यह आत्मा न तो देव है, न मनुष्य है, और न पशु है, न ही वृक्ष है—ये भेद तो कर्म जन्य शरीर-कृतियों का है।'[14]

शारीरिक मनोविज्ञान और नाम कर्म

शारीरिक मनोविज्ञान—ग्रन्थिस्राव—आज के शरीर शास्त्रियों ने शरीर में अवस्थित ग्रन्थियों[15] के विषय में बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। बौना होना या लम्बा होना, सुन्दर या

असुन्दर होना, बुद्धिमान या बुद्धिहीन होना, स्वस्थ या रोगी होना—यह सब इन ग्रन्थियों के स्राव पर निर्भर है । ग्रन्थियों के स्राव—इन सब को नियन्त्रित करते हैं ।

इसी तथ्य को हम कर्म शास्त्रीय भाषा में समझें ।

कर्मशास्त्रीय भाषा—नाम कर्म-विचित्रता—आठ कर्मों में एक कर्म है—नाम कर्म । उसके अनेक विभाग हैं । संस्थान नाम कर्म के कारण मनुष्य लम्बा या बौना होता है । इस प्रकार सुन्दर-कुरूप, सुस्वर वाला या दुःस्वर वाला आदि सब नाम कर्म की विभिन्न प्रकृतियों के कारण होता है ।

नाम कर्म का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर का सारा निर्माण नाम कर्म के आधार पर होता है ।[16]

उपर्युक्त कर्म शास्त्रीय विश्लेषण और शरीर शास्त्रीय विश्लेषण को देखें । दोनों में भाषा का अन्तर है, तथ्य का नहीं । शरीर-शास्त्री 'हार्मोन्स', 'सिक्रीशन ऑफ ग्लैंड्स'–ग्रंथियों का स्राव कहते हैं ।

कर्म-शास्त्री 'कर्मों' का 'रसविपाक'—'अनुभाग बन्ध' कहते हैं ।

मनोविज्ञान की भाषा में

भिन्नता का नियम—(Law of Variation) साधारणतः यह समझ लिया जाता है कि समान 'समान' ही उत्पन्न करता है । इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमान या स्वस्थ माता-पिता अपने ही समान सन्तान उत्पन्न करते हैं और निर्बल निर्बल सन्तान उत्पन्न करते हैं । पर कहीं-कहीं हमें इस नियम में परिवर्तन दिखाई देता है ।

बुद्धिमान माता-पिता के मूर्ख सन्तान क्यों उत्पन्न होती है ? बहुत साधारण परिवार में कभी-कभी बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ?

इस शंका का समाधान 'भिन्नता के नियम' से होता है ।[17]

वंशानुक्रमीय गुणों (Heredity traits) के वाहक बीज कोष (Germ Plasm) हुआ करते हैं । ये बीज-कोष अनेक रेशों से बने हुए होते हैं ।[18] 'इन रेशों को अंग्रेजी में क्रोमोजोम्स (Chromosomes), कहते हैं । इसे हम वंश सूत्र की संज्ञा देंगे ।'

जीन्स–विभिन्न गुण-दोषों के वाहक

एक बीज कोष में अनेक वंश-सूत्र पाये जाते हैं । आश्चर्य है कि इन वंशसूत्रों के और भी अनेक सूक्ष्म भाग होते हैं, जिन्हें अंग्रेजी में 'जीन्स' कहते हैं । ये 'जीन्स' अनेक संख्या में मिलकर वंश-सूत्र बनाते हैं । वास्तव में ये जीन्स ही विभिन्न गुण-दोषों के वाहक होते हैं ।[19]

कोई जीन पैर की लम्बाई का हुआ तो कोई नाक का। कोई छोटी आँख का हुआ तो कोई चिड़चिड़ापन का इत्यादि।

जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भ्रूण-कोष में चौबीस पिता के तथा चौबीस माता के वंश-सूत्रों का समागम होता है। वैज्ञानिकों[20] का अनुमान है कि इनके संयोग से 16,777,216 प्रकार की विभिन्न सम्भावनाएँ अपेक्षित हो सकती हैं।

विभिन्न मानसिक-शारीरिक स्थिति

प्रकृति की लीला कितनी विचित्र है। वैज्ञानिकों का कथन है कि वंश-सूत्रों का मिश्रण एक माता-पिता में भी सदैव समान नहीं होता क्योंकि उनकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती।

मनोविज्ञान में भिन्नता ?

कर्मशास्त्र में तो वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मिलता ही है। मनोविज्ञान ने भी इसका विशद रूप से चित्रण किया है। इसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में उठता है।

मूल प्रेरणाएँ (Primary motives)—'मूल प्रेरणाएँ[21] सब में होती हैं, किन्तु उनकी मात्रा सब में एक समान नहीं होती। किसी में कोई एक प्रधान होती है तो किसी में कोई दूसरी प्रधान होती है।'

अधिगम क्षमता (Learning Capacity) अधिगम क्षमता भी सब में होती है, किसी में अधिक होती है, किसी में कम।

वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त तो मनोविज्ञान के प्रत्येक सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है।

वंश-परम्परा और वातावरण (Heredity and Environment)—मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन वंश परम्परा और वातावरण के आधार पर किया जाता है। जीवन का आरम्भ माता के डिम्ब[22] और पिता के शुक्राणु से होता है।

क्रोमोसोम (Chromosome)—जीनों का समुच्चय

व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय क्रोमोसोम द्वारा होता है। क्रोमोसोम अनेक जीनों (जीन्स) का समुच्चय होता है। ये जीन ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के वाहक होते हैं। एक क्रोमोसोम में लगभग हजार जीन माने जाते हैं।

शारीरिक-मानसिक क्षमताएँ (Potentialities)[23]

इन जीन्स में ही शारीरिक और मानसिक विकास की क्षमताएँ निहित होती हैं। व्यक्ति में कोई ऐसी विलक्षणता प्रकट नहीं होती जिसकी क्षमता उनके जीन में निहित न हो। मनोविज्ञान ने शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं की व्याख्या वंशपरम्परा और वातावरण के आधार पर की है।

मनोविज्ञान और कर्मशास्त्र—वैषम्य

शारीरिक विलक्षणता पर आनुवंशिकता का प्रभाव प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, पर मानसिक विलक्षणताओं के सम्बन्ध में आज भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित हैं।

क्या बुद्धि आनुवंशिक है ? अथवा वातावरण का परिणाम है ? क्या बौद्धिक स्तर का विकास किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर प्रायोगिकता के आधार पर नहीं दिया जा सकता। वंश-परंपरा और वातावरण से सम्बद्ध प्रयोगात्मक अध्ययन केवल निम्न कोटि के जीवों पर ही किया गया है। बौद्धिक विलक्षणता का सम्बन्ध मनुष्य से है। इस विषय में मनुष्य अभी भी एक पहेली बना हुआ है।

जीवन और जीव—मनोविज्ञान और कर्म[24]

मनोविज्ञान[1] के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी तक स्पष्ट नहीं है। कर्म सिद्धान्त के अध्ययन में जीव और जीवन का भेद बहुत ही स्पष्ट है। आनुवंशिकता का सम्बन्ध जीवन से है, वैसे ही कर्म का सम्बन्ध जीव से है। उसमें अनेक जन्मों के कर्म या प्रतिक्रियाएँ संचित होती हैं।

इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणता[25] का आधार केवल जीवन के आदि-बिन्दु में ही नहीं खोजा जा सकता। उससे परे भी खोजा जाता है, जीव के साथ प्रवाहमान कर्म संचय (कर्म शरीर) में भी खोजा जाता है।

शारीरिक मनोविज्ञान का मत—एक जीन में साठ लाख आदेश[26]

आज के शरीर विज्ञान की मान्यता है कि शरीर का महत्त्वपूर्ण घटक है—जीन। यह संस्कार सूत्र है, यह अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रत्येक जीन में साठ-साठ लाख आदेश लिखे हुए होते हैं। इस सूक्ष्मता की तो मात्र कल्पना ही की जा सकती है। मनुष्य की शक्ति, चेतना, पुरुषार्थ कृतत्व कितना है ? एक-एक जीन में साठ-साठ लाख आदेश लिखे हुए हैं।

प्रश्न होता है कि हमारा पुरुषार्थ, हमारा कर्तृत्व, हमारी चेतना कहाँ है ? क्या यह 'क्रोमोसोम' और जीन में नहीं है ? इसलिए तो इतनी तरतमता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में। सब का पुरुषार्थ समान नहीं होता। सब की चेतना समान नहीं होती। इस असमानता का कारण—प्राचीन भाषा में, कर्म-शास्त्र[1] की भाषा में कर्म है।

जैसा कर्म, वैसा व्यक्ति

एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा[27]—'भंते ! विश्व में सर्वत्र तरतमता दिखाई देती है, किसी में ज्ञान कम है, किसी में अधिक इसका क्या कारण है ?'

भगवान् बोले—'गौतम ! इस तरतमता का कारण है कर्म'.

यदि आज के जीव-विज्ञानी से पूछा जाए कि विश्व की विषमता या तरतमता का कारण क्या है तो वह कहेगा कि सारी विषमता-तरतमता का एक मात्र कारण है 'जीन'।

जैसा जीन, वैसा आदमी[28]

जैसा 'जीन' होता है, गुणसूत्र होता है, आदमी वैसा ही बन जाता है, उसका स्वभाव और व्यवहार वैसा ही हो जाता है। यह जीन ही सभी संस्कार-सूत्रों तथा सारे भेदों-विभेदों का मूल कारण है।

जीन–कर्म पर लिखे आदेश

जीन—विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि एक-एक जीन पर साठ-साठ हजार आदेश लिखे हुए होते हैं।

कर्म-स्कन्ध (कर्म स्कन्ध)—कर्म-शास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि एक-एक कर्म-स्कन्ध में अनन्त आदेश लिखे हुए होते हैं।[29]

जीन-स्थूल-शरीर, कर्म-सूक्ष्म शरीर

अभी तक विज्ञान केवल 'जीन' तक ही पहुँच पाया है। जीन इस स्थूल शरीर का ही घटक है, किन्तु कर्म सूक्ष्म शरीर का घटक है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस शरीर है, विद्युत शरीर है, वह सूक्ष्म है। इससे सूक्ष्म है कर्म-शरीर। यह सूक्ष्मतम है। इसके एक-एक स्कन्ध पर अनन्त-अनन्त लिपियाँ लिखी हुई हैं। हमारे पुरुषार्थ का, अच्छाइयों और बुराइयों का न्यूनताओं और विशेषताओं का सारा लेखा-जोखा और सारी प्रतिक्रियाएँ कर्म-शरीर में अंकित हैं। वहाँ से जैसे स्पन्दन आते हैं, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है।

कर्म सिद्धान्त और मनोविज्ञान का सिद्धान्त

कर्म का सिद्धान्त अति सूक्ष्म है। सूक्ष्म बुद्धि से परे का सिद्धान्त है। आज के वंश परंपरा के सिद्धान्त ने कर्म सिद्धान्त को समझने में सुविधा प्रदान की है।

जीन-आनुवंशिक गुणों के संवाहक

जीन व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों के संवाहक है।[30] व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह जीन के द्वारा किया हुआ भेद है।

प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का जीन होता है। ये आनुवंशिकता के नियम कर्मवाद के संवादी नियम हैं।[31]

स्थूल शरीर से सूक्ष्म की यात्रा

स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की यात्रा अपने आप में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह शरीर स्थूल है, यह सूक्ष्म कोशिकाओं (Biological cells) से, निर्मित है। लगभग साठ-सत्तर खरब कोशिकाएँ हैं।

सूई की नोक में ? अनन्त जीव !

इन कोशिकाओं को जैन दर्शन के प्रतिपादन के सन्दर्भ में समझें कि सूई की नोक टिके—उतने-से स्थान में निगोद के अनन्त जीव समा सकते हैं।[32] निगोद वनस्पति का एक विभाग है—यह सूक्ष्म रहस्यपूर्ण बात है। पर आज का विज्ञान भी अनेक सूक्ष्मताओं का प्रतिपादन करता है।

शरीर में खरबों कोशिकाएँ हैं, उन कोशिकाओं में गुण-सूत्र होते हैं। प्रत्येक गुण-सूत्र दस हजार जीन से बनता है। वे सारे संस्कार-सूत्र हैं। हमारे शरीर में 'छियालीस' क्रोमोसोम होते हैं। वे बनते हैं जीन से, संस्कार-सूत्रों से।

संस्कार-सूत्रों से एक क्रोमोसोम बनता है। संस्कार-सूत्र सूक्ष्म है, जीन सूक्ष्म है।

कर्म--परमाणु के संवाहक

कर्मवाद मनोविज्ञान से एक चरण और आगे है। कर्म परमाणु का संवहन करते हैं। व्यक्तिगत भेद का मूल कारण है, कर्म। सारे विभेद कर्मकृत हैं।[33]

प्रत्येक जैविक विशेषता के लिए कर्म उत्तरदायी होता है।

आनुवंशिकता, जीन, रासायनिक परिवर्तन---कर्म के सिद्धान्त :

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आनुवंशिकता, जीन और रासायनिक परिवर्तन--ये तीनों सिद्धान्त कर्म के ही सिद्धान्त हैं। जीन हमारे स्थूल शरीर का अवयव है और कर्म हमारे सूक्ष्मतर शरीर का अवयव है। दोनों शरीर से जुड़े हुए हैं---एक स्थूल शरीर से और दूसरा सूक्ष्मतर शरीर से। यह सूक्ष्मतर शरीर कर्म शरीर है।

'कर्म बनाम जीन'---पर अनुसन्धान का विषय

महाप्रज्ञ जी लिखते हैं[34]-- 'एक दिन यह तथ्य भी अनुसन्धान में आ जाएगा कि जीन केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, किन्तु ये हमारे किए हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।'

अतः उपर्युक्त विवेचना का निष्कर्ष है कि अब 'जीन बनाम कर्म' शोध का एक महत्वपूर्ण विषय है।

सन्दर्भ स्थल

1. युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ, कर्मवाद पृ. 235,
2. महापुराण--आचार्य जिनसेन

   विधि, सृष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्।
   ईश्वर-ईश्वर चेति पर्याय कर्म वेधस्॥
3. नीतिशतक, 92, भर्तृहरि:

   ---ब्रह्मा येन कुलाल वन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे,
   विष्णुर्येन दशावतार गहने क्षिप्तो महासंकटे।
   रुद्रो येन कपालपाणि पुटके भिक्षाटनं सेवते।
   सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥
4. कर्मग्रन्थ प्रथम, टीका : देवेन्द्र सूरि :

   ---क्ष्मा भृद्रंकयोर्मनीषिजडयोः सद्रूप निरूपयोः,
   श्रीमद्-दुर्गतयोर्बलाबलवतार्नीरोगरोगार्त्तयोः।
   सौभाग्याऽसुभगत्वसंगम जुषोस्तुल्येऽपि नत्वेऽन्तरं,
   यत्तत्कर्म निबन्धनं तदपि नो जीव बिना युक्तिमत्॥

5. भगवती सूत्र, 12/5 :
कम्मओणं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्ति भावं परिणमई।
कम्मओणं जओ णो अकम्मओ विभत्ति भावं परिणमई।

6. आचारांग सूत्र, 1/3/1 :
—कम्मुणा उवाही जायइ.

7. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, 191 :
—'मलावृतमणेर्व्यक्ति यथानैक विधेक्ष्यते।
कर्मावृतात्मनस्तद्वत्, योग्यता विविधा न किम' ?

8. उत्तराध्ययन सूत्र, 3/2, 3, 4, 6 :
—'समावन्नाण संसारे, नाणा गोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्ट, विस्सं भया पया।।
एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ।।
एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल बुक्कसो।
तओ कीड पयंगो अ, तओ कुंथु पिवीलिया।।
कम्मसंगेहिं संमूढा, दुक्खिआ बहुवेअणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो।।'

9. मिलिन्द-पञ्हो पृष्ठ 68, विभतिच्छेद पञ्हो—
राजा आह—भन्ते नागसेन, यानि'मानि पञ्चायतनानि
किं नु तानि नाना कम्मेहि निब्बत्तानि उदाहु एकेन कम्मेना'ति।
—नाना कम्मेहि महाराज निब्बत्तानि, न एकेन कम्मेना'ति।
—ओ पम्मं करोही'ति।
—तं किं मञ्ञसि महाराज एकस्मिं खेते
नाना बीजानि वप्पेयुं। तेसं नाना बीजानं नाना फलानि निब्बत्तेय्यु'ति।
—आम भन्ते निब्बत्तेय्यु'ति।
—एवमेव खो महाराज यानि तानि पञ्चायतनानि तानि तानि नानाकम्मेहि निब्बत्तानि न एकेन कम्मेना'ति।
—कल्लो'सि भन्ते नागसेना'ति।

10. कर्मजं लोक वैचित्र्यं चेतना मानसं चतत्। —अभिधर्म कोष

11. भारतीय धर्मो मां कर्मवाद:
मिलिन्द पञ्हो, पृष्ठ 68,विमतिच्छेद पञ्हो:
'राजा आह—भन्ते नागसेन केन कारणेन मनुस्सा न सब्बे समका,
अञ्ञे अप्पायुका, अञ्ञे दीघायुका,
अञ्ञे बव्हा बाधा, अञ्ञे अप्पाबाधा,

अञ्जे दुब्बण्णा, अञ्जे वण्णवन्तो,
अञ्जे अप्पेसक्खा, अञ्जे महेसक्खा,
अञ्जे अप्पभोगा, अञ्जे महाभोगा,
अञ्जे नीचकुलगना, अञ्जे महाकुलीना,
अञ्जे अप्पञ्चा, अञ्जे पञ्ञावन्तो'ति।

थेरो आह—'किस्स पन महाराज रुक्खा न सब्बे समका, अज्जे अम्बिला, अज्जे लवणा; अज्जे तित्तका, अज्जे कटुका अज्जे कसावा, अज्जे मधुरा' ति।

राजा आह—मज्जामि भन्ते बीजाने नाना कारेणनाति, थेरो आह—एवमे' व खो महाराज कम्मानं नाना करणेन मनुस्सा न सब्बे समका–अज्जे अप्पायुका, अज्जे दीघायुका, अज्जे बव्हाबाधा अज्जे अप्पाबाधा, अज्जे दुब्बण्णा, अज्जे वण्णवन्तो, अज्जे अप्पेसक्खा महेसक्खा, अज्जे, अप्पभोगा, अज्जे माहाभोगा, अज्जे नीचकुलीना, अज्जे महाकुलीना अप्पज्जा अज्जे पज्जबन्तो।'

12. मनुस्मृति, अ. 12.3 :

शुभाशुभ फलं कर्म, मनोवाग्–देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नणामुत्तमाधममध्यमाः ॥

13. मनुस्मृति, अ. 12.10 :

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं, व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।
अशुभैः केवलैश्चैव, तिर्यग्योनिषु जायते ॥

14. विष्णु पुराण, 2.13.97 :

पुमान देवो न नरो, न पशुर्न ज पादपः।
शरीरकृति भेदास्तु, भूपैते कर्मयोनयः ॥

15. Human Anatomy and Physiology, P. 326, MIR—MOSCOW. (1982)
16. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) 12 :—नेमिचन्द्र

गदि आदि जीव भेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च।
गदियंतर परिणमनं करेदि णामं अणेयवि ॥

17. 'The law of Variation' भिन्नता का नियम, मनोविज्ञान और शिक्षा, सरयूप्रसाद चौबे पृ. 160 (1960)
18. वही
19. मनोविज्ञान और शिक्षा, पृ. 161
20. वही
21. कर्मवाद— P. 236, 1986—युवाचार्य महाप्रज्ञ
22. Human Anatomy and Physiology P. 188 Ed. 1982, DAVID MYSHNE MIR -MOSCOW :

'—The union of an ovum and spermatozoon in a uterine tube results in fertilization.

23. मनोविज्ञान और शिक्षा (1960) पृ. 161

24. कर्मवाद—पृष्ठ 237

25. जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं।
कज्जत्तणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ।। —विशेषावश्यक भाष्य

26. कर्मवाद, 136 पृष्ठ

27. भगवती सूत्र 12/5 :
कम्मओणं भंते ! जीवे, नो-अकम्मओ विभक्ति भावं परिणमई।
कम्मओणं, जओ णो अकम्म ओ विभत्तिभावं परिणमई।

28. कर्मवाद, पृ. 137

29. भगवती सूत्र

30. मनोविज्ञान और शिक्षा, पृष्ठ 161 (1960)

31. कर्मवाद, पृ. 164—

32. (क) कर्मवाद, प्रतिक्रमण, युवाचार्य महाप्रज्ञ
(ख) भगवती सूत्र

33. कम्मुणा उवाही जायइ । आचारांग, 1.3.1.

34. 'कर्मवाद',—अतीत को पढ़ो, भविष्य को देखो—महाप्रज्ञ.

(शोधकर्ता द्वारा प्रस्तुत नवीन दृष्टि के सन्दर्भ में कर्म सिद्धान्त के अधिकारी विद्वानों की प्रतिक्रियायें प्रकाशनार्थ सादर आमंत्रित है—सम्पादक)

शरीर-संरचना—आधुनिक शरीर-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

शरीर का महत्त्व- भगवान् महावीर ने कहा है—

शरीर माहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो ।।

- 'आयुष्मान् ! इस संसार रूप सागर के दूसरे पार जाने के लिए यह शरीर नौका है, जिसमें बैठकर आत्मा रूपी नाविक समुद्र पार करता है ।' संस्कृत-साहित्य की प्रसिद्ध सूक्ति है- 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्'- अर्थात् शरीर ही निश्चित रूप से धर्म का साधन है ।

शरीर का लक्षण- जो उत्पत्ति के समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है, जिसके द्वारा भौतिक सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है तथा जो शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होता है, उसे शरीर कहते हैं ।[1] 'जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के पुद्गल-स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल-स्कन्ध शरीर-योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, उस कर्म-स्कन्ध की 'शरीर' यह संज्ञा है ।'[2] 'जो विशेष नाम-कर्म के उदय से गलते हैं, वे शरीर हैं ।'[3] अनन्तानन्त पुद्गलों के समवाय का नाम शरीर

१- मोक्ष-प्रकाश, धनमुनि ।

२- धवला, ६।१, ६-१, २८।५२।६:

- जस्स कम्मस्स उदएण आहार वग्गणाए पोग्गल-खंधा तेजा कम्मइय वग्गण पोग्गलखंधा च सरीरजोग्ग परिणामेहि परिणदा संता जीवेण संबज्झंति तस्स कम्मखंधस्स सरीरमिदि सण्णा ।

३- सर्वार्थ सिद्धि, ८।३६।१६१४: -विशिष्ट नामकर्मोदयापादित वृत्तीनि शीर्यन्ते इति शरीराणि ।

है। शरीर, शील, स्वभाव- ये एकार्थक हैं।[1]

शरीर नाम कर्म- 'जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नामकर्म है।'[2] 'जिस कर्म के उदय से आहारवर्गणा के पुद्गल-स्कन्ध तथा तेजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल-स्कंध शरीर योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, उस कर्म-स्कन्ध को 'शरीर' यह संज्ञा है।'[3]

शरीर नाम कर्म के भेद- जो शरीर नामकर्म है, वह पांच प्रकार का है- (१) औदारिक शरीर नाम कर्म, (२) वैक्रियिक शरीर नामकर्म, (३) आहारक शरीर नामकर्म, (४) तैजस शरीर नामकर्म और (५) कार्मण शरीर नाम-कर्म।[4]

औदारिक शरीर- 'जो शरीर गर्भ जन्म से और संमुर्च्छन जन्म से उत्पन्न होता है, वह सब औदारिक शरीर है।'[5]

१- धवला,- १४।५, ६, ५१२।४३४: अणंताणंत पोग्गल समवाओ सरीरं।

२- (क) सर्वार्थसिद्धि, ८।११।३८६।६:

यदुदयात्मनः शरीरनिर्वृतिस्तच्छरीरनाम।

(ख) राजवार्तिक, ८।११।३।५७६।१४।

३- धवला, ६।१, ९-१, २८।५२।६।

४- (क) षट्खण्डागम, ६।१, ९-१।सू० ३१।६८: जं तं सरीरणामकम्मं तं पंचविहं ओरालिय सरीरणामं, वेउव्वियसरीरणामं, आहार सरीरणामं तेया-सरीरणामं कम्मइय सरीरणामं चेदि ।।३१।।

(ख)-तत्त्वार्थ सू०, औदारिक वैक्रियिकाहारक तैजसकार्मणानि शरीराणि। ।। २।३६ ।।

(ग) ठाणं, ५।२५ (घ) समवाओ प्रकीर्णक, १५८।

५- सर्वार्थसिद्धि, २।४५।१९७।१: यद् गर्भजं यच्च संमुर्च्छजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम्।

'तिर्यंच और मनुष्यों के इस इन्द्रियगोचर स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं। इसके निमित्त से होने वाला आत्म-प्रदेशों का परिस्पंदन औदारिक काय-योग कहलाता है। शरीर धारण के प्रथम तीन समयों में जब तक इस शरीर की पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक इसके साथ कार्मण शरीर की प्रधानता रहने के कारणशरीर व योग दोनों मिश्र कहलाते हैं।'[1]

वैक्रियिक शरीर-- अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकार का शरीर करना विक्रिया है। वह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है, वह वैक्रियिक शरीर है।'[2] 'देवों और नारकियों के चक्षु-अगोचर शरीर विशेष को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह छोटे-बड़े हल्के-भारी अनेक प्रकार के रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है।'[3]

आहारक शरीर- 'जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थों का आहरण करता है, उसको आहारक शरीर कहते हैं।'[4] जीव हर अवस्था में निरन्तर नोकर्माहार ग्रहण करता रहता है, इसलिए भले ही वह कवलाहार करे अथवा न करे, वह आहारक कहलाता है। जन्म धारण के प्रथम क्षण से ही वह आहारक हो जाता है।'[5]

१- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ४७० ।

२- (क) सर्वार्थसिद्धि, २।३६।१६१।६-

अष्ट गुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीर विविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियकम् ।

(ख) धवला, १।१।५६।२६१।६;

३- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ६०१

४- धवला, १, १।५६।२६२-३:

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः ।

५- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० २६३ ।

'तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने को आहार कहते हैं।'[1]

तैजस शरीर- स्थूल शरीर में दीप्ति विशेष का कारणभूत एक अत्यन्त सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीव को होता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं। तप व ऋद्धि विशेष के कारण भी दायें या बायें कंधे से कोई विशेष प्रकार का प्रज्वलित पुतला-सरीखा उत्पन्न किया जाता है, उसे तैजस समुद्घात कहते हैं।[2] 'जो दीप्ति का कारण है या तेज में उत्पन्न होता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं।'[3]

कार्मण शरीर- 'जीव के प्रदेशों के साथ बन्धे अष्ट कर्मों के सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध के संग्रह का नाम कार्मण शरीर है।'[4] 'यद्यपि सर्व शरीर कर्म के निमित्त से होते हैं, तो भी रूढ़ि से विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहा है। कर्मों का कार्य कार्मण शरीर है।'[5] 'सब कर्मों का प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दुःख का बीज है, इसलिए कार्मण शरीर है।'[6] 'ज्ञानावरण आदि आठ

१- सर्वार्थ-सिद्धि, २।३०।१८६।६: त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गल ग्रहणमाहारः।

२- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ३६४।

३- सर्वार्थ-सिद्धि, २।३६।१९१।८: -यत्तेजोनिमित्तं तेजसि वा भवं तत्तैजसम्।

४- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग२, पृ० ७५।

५- सर्वार्थसिद्धि, २।३६।१९१।६: सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वे पि रूढिवशाद्विशिष्ट विषये वृत्तिरवसेया, कर्मणां कार्यं कार्मणम्।

५- षट्खंडागम, १४।५, ६।सू० २४१।३२८: -सव्वकम्माणं परूहणुप्पादयं सुहदुक्खाणं बीजमिदि कम्मइयं।२४१।

प्रकार के ही कर्म-स्कंध को कार्मण शरीर कहते हैं अथवा जो कार्मण शरीर नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, उसे कार्मण शरीर कहते हैं।[1]

संस्थान नाम कर्म- संस्थान का अर्थ है-- शरीर के अवयवों की रचना, आकृति। ये छह हैं-[2] १- समचतुरस्र, २- न्यग्रोध-परिमंडल, ३- सादि (स्वाति), ४- कुब्ज, ५- वामन, ६- हुंडक

तत्त्वार्थ वार्तिक में इन- संस्थानों की व्याख्या इस प्रकार से की गई है-

१- समचतुरस्र-- जिस शरीर-रचना में ऊर्ध्व, अध: और मध्यभाग सम होता है, उसे समचतुरस्र संस्थान कहा जाता है। एक कुशल शिल्पी द्वारा निर्मित चक्र की सभी रेखाएं समान होती हैं। इसी प्रकार इस संस्थान में सभी भाग समान होते हैं।

२- न्योग्रोध-परिमंडल-- जिस शरीर-रचना में नाभि के ऊपर का भाग बड़ा (विस्तृत) तथा नीचे का भाग छोटा होता है, उसे न्योग्रोध-परिमंडल कहा जाता है। इसका यह नाम इसीलिए दिया गया है कि इस संस्थान की तुलना न्योग्रोध (वट) वृक्ष के साथ होती है।

३- स्वाति-- इसमें नाभि के ऊपर का भाग छोटा और नीचे का बड़ा होता है। इसका आकार वल्मीक की तरह होता है।

४- कुब्ज-- जिस शरीर-रचना में पीठ पर पुद्गलों का अधिक संचय हो, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।

५- वामन-- जिसमें सभी अंग-उपांग छोटे हों, उसे वामन संस्थान कहते हैं।

१- (क) तत्त्वार्थ-वार्तिक, पृ० ५७६, ५७७

(ख) स्थानांगवृत्ति, पत्र ३३६

६- हुण्ड-- जिसमें सभी अंग-उपांग हुण्ड की तरह संस्थित हों, उसे हुण्ड संस्थान कहते हैं।

मनोवैज्ञानिकों द्वारा शरीर-रचना का वर्गीकरण-- शेल्डन महोदय ने शारीरिक रचना के आधार पर वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण का आधार शेल्डन का शरीर-विज्ञान तथा शरीर-विकास-विज्ञान है। उसने ४०० व्यक्तियों का अध्ययन किया है। वर्गीकरण इस प्रकार है-[१]

(क) कोमल तथा गोलाकार (ENDOMORPHIC)

(ख) आयताकार (MESOMORPHIC) (ग) लम्बाकार (ECTOMORPHIC)

(क) कोमल तथा गोलाकार-- इस प्रकार के व्यक्ति अत्यन्त कोमल किन्तु देखने में मोटे लगते हैं। इनका व्यवहार उनकी आन्तों के आन्तरिक शक्तिशाली पाचन पर निर्भर होता है।

(ख) आयताकार-- ये लोग पूर्ण रूप से शक्तिशाली होते हैं। इनका शरीर भारी व मजबूत होता है, खाल पतली होती है।

(ग) लम्बाकार- इस श्रेणी के व्यक्ति शक्तिहीन होते हैं, किन्तु इनमें उत्तेजनशीलता अधिक होती है, जिसके कारण बाह्य जगत् में वे अपनी क्रियाओं को शीघ्रता से करते हैं।

शरीर के प्रकार-- क्रेचनर महोदय ने ४०० व्यक्तियों का अध्ययन किया। उनकी शारीरिक रूपरेखा के अनुसार उनको चार वर्गों में विभक्त किया है-

(क) सुडौल काय (ATHLETIC) (ख) लंबकाय (AESTHEMIC)

(ग) गोल काय (PYKNIC) (घ) डायसप्लास्टिक (DYSPLASTIC)

१- W.H. Sheldon; The varieties of Human Physicque, Harper, New York (1940).

(क) सुडौलकाय-- वे व्यक्ति जो शक्तिवान होते हैं, वे अपनी इच्छानुसार समायोजन कर लेते हैं। कार्य में रुचि लेते हैं और दुसरी वस्तुओं की चिन्ता बहुत कम करते हैं।

(ख) लंबकाय-- इस प्रकार के व्यक्ति लम्बे और पतले होते हैं। दुसरों की निन्दा करते हैं और अपनी निन्दा के प्रति सजग रहते हैं।

(ग) गोल काय-- इस प्रकार के लोग मजबूत और छोटे होते हैं, दुसरे लोगों के साथ सरलता से मिल जाते हैं।

(घ) डायस्पलास्टिक-- इस प्रकार के लोगों का शरीर साधारण होता है।

इस प्रकार संस्थान नामकर्म तथा शेलडन और क्रेचनर के वर्गीकरण में अद्भुत समानता दिखायी देती है।

संहनन नाम-कर्म-- धवला में लिखा है कि हड्डियों के संचय को संहनन कहते हैं।[1] संहनन नाम-कर्म के छह भेद हैं-- १- वज्रऋषभनाराचसंहनन, (२) ऋषभनाराच-संहनन, (३) नाराचसंहनन, (४) अर्धनाराचसंहनन, (५) कीलिकसंहनन और (६) सेवार्तसंहनन (असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन)।

वज्रर्षभनाराचसंहनन-- जिसके उदय से वज्र के हाड़, वज्र के वेष्टन और वज्र की कीलें हों, उसे वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं।

१- धवला, ६।१, ९-१, ३६।७३।८: संहननमस्थि संचय, ऋषभो वेष्टनम्, वज्रवद्‌भेद्यत्वाद्वज्र ऋषभः। वज्रवन्नाराच वज्रनाराच, तौ द्वावपि यस्मिन् वज्रशरीर संहनने तद्वज्रऋषभवज्रशरीर संहननम्। जस्स कम्मस्स उदएण वज्जहड्डाइ वज्जवेटठेण वेट्ठियाइं वज्जणाराएण खीलियाइं चहोंति तं वज्ज रिसहवइरणा-रायण सरीर संघडण मिदि उच्चं होदि।

ऋषभनाराचसंहनन-- जिसके उदय से वज्र के हाड़ और वज्र की कीलें हों परन्तु वेष्टन वज्र के नहीं होते उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं ।

नाराचसंहनन-- जिस कर्म के उदय से वज्ररहित वेष्टन और कीलों से सहित हाड़ हों उसे नाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं ।

अर्द्धनाराचसंहनन-- जिस कर्म के उदय से हाड़ों की संधियां आधी कीलित हों, उसे अर्द्धनाराचसंहनन कर्म कहते हैं ।

कीलकसंहनन-- जिस कर्म के उदय से हाड़ परस्पर कीलित हों, उसे कीलक संहनन कहते हैं ।

असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन-- जिस कर्म के उदय से हाड़ नसों में बंधे हों, कीलों से युक्त न हों उसे असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन कहते हैं ।[१]

१- ऐसो चेव हड्डबंधो वज्जरिसह वज्जिओ जस्स कम्मस्स उदएण होदि तं कम्मं
(क) वज्जणारायणसरीर संघडण मिदि भण्णदे ।
जस्स कम्मस्स उदएण वज्जविसेसण रहिदणारायण खीलियाओ हड्डसंधिओ हवंति तं णारायण सरीर संघडणं णाम । जस्स कम्मस्स उदएण हड्डसंधीओ णाराएण अद्धविद्धाओ हवंति तं अद्ध णारायण सरीरसंघडणं णाम । जस्स कम्मस्स उदएण अवज्ज हड्डाइं खीलियाइं हवंति तं खीलिय सरीर संघडणं णाम । जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णमसंपत्ताइं सरि सिव हड्डाइं व छिरानद्धाइं हड्डाइं हवंति तं असं पत्त सेवट्ट सरीर संघडणं णाम ।
(ख) ठाणं, ६.३०: छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा--
वइरोसभ-णाराय-संघयणे, उसभणाराय-संघयणे, णाराय-संघयणे, अद्धणाराय- संघयणे, खीलिया-संघयणे, छेवट्ट-संघयणे ।

शरीर-मनोवैज्ञानिकों का मत-- शरीर-मनोवैज्ञानिकों ने हड्डी के जोड़ या संधियों के बारे में अनुसंधान किया है।

सन्धियां (ARTICULATIONS)- शरीर के कंकाल की रचना अनेक अस्थियों से मिलकर होती है। इसमें छोटी-बड़ी, लम्बी-चौड़ी, चपटी-गोल सभी प्रकार की अस्थियां होती हैं। ये आपस में विभिन्न स्थानों पर जुड़ती हैं जिससे शरीर का स्वरूप तैयार होता है। जहां कहां दो या दो से अधिक अस्थियां आपस में जुड़ती हैं, वहां जोड़ या सन्धि (JOINT, JUNCTURE OR OSSIUM) बनती है।

छोटी-बड़ी अस्थियों के इस प्रकार आपस में जुड़ने से शरीर को गति करने की क्षमता प्राप्त होती है।

सन्धियों के भेद-- (KINDS OF JOINTS)-- रचना के आधार पर सन्धियों को तीन वर्गों में रखा गया है-[1] (१) सूत्रण-सन्धि (FIBROUS JOINTS) (२) उपास्थि-सन्धि (CARTILAGINOUS JOINTS) (३) स्नेहक-सन्धि (SYNOVIAL JOINTS).

सन्धियों के सात वर्ग-- अभिनव शब्दावली के अनुसार सन्धियों के सात वर्ग हैं- (१) साधारण सन्धि (PLAIN JOINTS) (२) गोलाभ सन्धि (SPHEROID) (३) स्थूल काभ सन्धि (CONDYLAR JOINTS) (४) दीर्घ वृत्तीय सन्धि (ELLIPSOID JOINTS) (५) चक्रक सन्धि (TROCHOID JOINTS) (६) पर्याणिका सन्धि (SELLER JOINTS) (७) कब्जा अर्थात् कोर सन्धि (HINGE-OR-GINGLYMUS JOINTS)

गति के आधार पर सन्धियों का वर्गीकरण-- जिस स्थान पर अस्थियां

१- शरीर-क्रिया-विज्ञान, १९८४), पृ० १५६:
-डा० प्रमिला वर्मा, डा० कान्ति पांडेय,
-बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

आपस में सन्धि बनाती हैं, वहां पर वे थोड़ा बहुत गति करती हैं । इस प्रकार गति के आधार पर संधियां तीन वर्ग की होती हैं:-

(१) अचल संधियां (२) अल्प चल संधियां

(३) अबाधचल संधियां

अबाध चल संधियों के प्रकार-- अबाधचल संधियों के उदाहरण शरीर में सबसे अधिक हैं । इनके कई प्रकार हैं तथा रचना में भी थोड़ा बहुत अन्तर होता है । ये संधियां निम्न प्रकार की होती हैं[१]- (१) कंदुक उलूखल संधि

(२) कोर संधि (३) धुराग्र संधि

(४) संसर्पी संधि

इस प्रकार संहनन नामकर्म तथा शरीर वैज्ञानिकों के संधियों के वर्गीकरण में अद्भुत समता है ।

पर्याप्ति-नामकर्म-- 'योनि स्थान में प्रवेश करते ही जीव वहां अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण या आहार करता है । तत्पश्चात् उनके द्वारा क्रमश: शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा व मन का निर्माण करता है । यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर इस कार्य में बहुत काल लगता है पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस कार्य में एक अन्तर्मुहूर्त पूरा कर लेता है । इन्हें ही उसकी छह पर्याप्तियां कहते हैं ।'[२] 'चारों तरफ से प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं ।'[३] 'जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तियों की रचना होती है, वह पर्याप्ति

---

1. Human Anatomy And Physiology- Page 49. MIR Publications, Moscow, (1982).

२- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ३६

३- गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका, ३।२११८: -परिसमन्तात्, आप्ति-पर्याप्ति शक्ति निष्पत्तिरित्यर्थ:।

नाम कर्म है। --- जो छह प्रकार की पर्याप्तियों के अभाव का हेतु है, वह अपर्याप्ति नाम कर्म है।[१]

'आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि के व्यापारों में अर्थात् प्रवृत्तियों में परिणमन करने की जो शक्तियां हैं, उन शक्तियों के कारण जो पुद्गल स्कन्ध हैं, उन पुद्गल-स्कन्धों की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं।'[२] 'आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन: पर्याप्ति-- ऐसे छह पर्याप्ति कही हैं।'[३]

गर्भ-विज्ञान-- 'स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ कहते हैं अथवा माता के द्वारा उपभुक्त आहार के गरण होने को गर्भ कहते हैं।'[४] 'माता का रुधिर और पिता का वीर्य रूप पुद्गल का शरीर रूप ग्रहण कर जीव का उपजना सो गर्भ जन्म है।'[५]

१- सर्वार्थ-सिद्धि, ८।११।३६२।२: यदुदयाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्ति: तत्पर्याप्ति-नाम। --- षड्विध पर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम।

२- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १३४-३५: आहार-सरीरिंदियणिस्सासुस्सास-भास मणसाणं। परिणइ-वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ ।।१३४।। तस्सेव कारणाणं पुग्गल खंधान जाहु णिप्पत्ती ।।१३५ ।।

३- मूल-आराधना, १०४५: आहारे य सरीरे ---- जिणमादा।

४- सर्वार्थसिद्धि- २।३१।१८७।४: स्त्रिया उदरे शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भ:। मात्रुपभुक्ताहार गरणाद्वा गर्भ:।

५- गोम्मटसार जीवकांड जीवतत्त्व प्रदीपिका, ८३।२०५।१: जायमान जीवेन शुक्रशोणित रूप पिण्डस्य गरणं शरीरतया उपादनं गर्भ:।

जीव का गर्भ-प्रवेश- श्रीमद् भागवत् में कहा है- 'जीव प्रारब्ध-कर्मवश देह-प्राप्ति के लिए पुरुष के वीर्य कण के आश्रित होकर स्त्री के उदर में प्रविष्ट होता है।'[1] आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर जीव के पूर्व कर्मों के अनुसार गर्भ-प्रवेश का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है- 'यह आत्मा जैसे शुभ-अशुभ कर्म पूर्व जन्म में संचित करता है, उन्हीं के आधार पर इसका पुनर्जन्म होता है और पूर्व देह में संस्कारित गुणों का प्रादुर्भाव इस जन्म में होता है।[2] गीता के छठे अध्याय में योगिराज कृष्ण ने इस बात की पुष्टि की है-

'तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।'

इसी कारण इस संसार में हम किसी को सुन्दर, किसी को कुरूप, किसी को लूला, किसी को लंगड़ा, किसी को अंधा, किसी को काना देखते हैं। इसी प्रकार कोई जीव किसी महापुरुष के घर जन्म लेता है तो कोई किसी अधम के घर उत्पन्न होता है। कोई ऐश्वर्यशाली के घर जन्मता है तो कोई अकिंचन कुटीर में पलता है। यह विविधता पूर्वकृत कर्म से होती है जिसे कि दैव के नाम से कहा जाता है-

'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।'

वात्स्यायन के अनुसार पूर्वकृत कर्म के फल से नए शरीर का निर्माण होता है।[3] जैन दर्शन में कर्मनिमित्तक शरीर-निर्माण की प्रतिपत्ति मान्य है। गौतम ने पूछा भंते! जो प्राणी अगले जन्म में उत्पन्न होने वाला है, क्या वह सायुष्क संक्रमण करता है या निरायुष्क?

१- श्रीमद्भागवत, ३।३१।१: ग० पु० सा०, ६।५: कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतः कणाश्रयः॥

२- सुश्रुत, शा० २।२५: कर्मणा चोदितो येन यदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्।

३- न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य ३।२।५९-६०, पृ० २६३

भगवान्--गौतम ! यह सायुष्क संक्रमण करता है, निरायुष्क संक्रमण नहीं करता ।

गौतम-- भंते ! वह आयुष्य का बंध कहाँ करता है?

भगवान्-- वह आयुष्य का बंध पूर्वभव में कर लेता है ।[1]

जीव का गर्भवास-

गरुड पुराण-सारोद्धार में तथा भागवत में जीव के गर्भवास का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध है- 'माता द्वारा भुक्त अन्न-पानादि से बढ़ा है रस, रक्त आदि धातु जिसका, ऐसा प्राणी असम्मत अर्थात् जिससे दुर्गंध आती है जिसमें जीव का सम्भव है विष्ठा और मूत्र के गर्त में सोता है । सुकुमार होने के कारण गर्त में होने वाले भूखे कृमियों के काटे जाने पर प्रतिक्षण उस क्लेश से पीड़ित हो मूर्च्छित हो जाता है । माता से खाए हुए कडुवे, तीक्ष्ण, लवणीय रूखे और खट्टे आदि उल्बन पदार्थों से छूए जाने पर अंगों में वेदना होती है, तथा जरायु और आंत के बंधन में पड़ कर पीठ-ग्रीवा के लचकने से कांख मेंसिर करके पिंजरे के पक्षी के समान अंगों के चलाने में असमर्थ हो जाता है । वहाँ दैव योग से सौ जन्म की बात स्मरण कर दीर्घ श्वास लेता है । अतः कुछ भी सुख नहीं । संतप्त और भय भीत जीव धातुरूप सात बन्धनों में पड़कर तथा हाथ जोड़कर जिसने इस उदर में डाला है, उसको दीन वचनों से स्तुति करता है ।'[2]

१- भगवती, ५.५६-६०: जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए, से णं भंते ! किं साउए संकमइ? निराउए संकमइ?
गोयमा ! साउए संकमइ, नो निराउए संकमइ ।।५६ ।।
से णं भंते ! आउए कहिं कडे? कहिं समाइण्णे?
गोयमा ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे । ।।६०।।

२- (क) श्रीमद्भागवत, ३।३१, ५-८,११. (ख) गुरुडपुराण-सारोद्धार, ६।६.१६

चरक संहिता में शरीर-रचना-- चरक संहिता के शरीरस्थानक में शरीर-संरचना के विषय में लिखा है- 'सबसे पूर्व मन रूपी कारण के साथ संयुक्त हुआ आत्मा धातुगुण के ग्रहण करने के लिए अथवा महाभूतों के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है। आत्मा का जैसा कर्म होता है और जैसा मन उसके साथ होता है, वैसा ही शरीर बनता है, वैसे ही पृथिवी आदि भूत होते हैं तथा अपने कर्म द्वारा प्रेरित किये हुए मनरूपी साधन के साथ स्थूल शरीर को उत्पन्न करने के लिए उपादानभूत भूतों को ग्रहण करता है।

यह आत्मा हेतु, कारण, निमित्त, कर्ता, मन्ता, बोधयिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, विश्व कर्मा, विश्वरूप, पुरुष प्रभव, अव्यय, नित्यगुणी, भूतों को ग्रहण करने वाला प्रधान, अव्यक्त, जीवज्ञ, प्रकुल, चेतनावान्, प्रभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा कहलाता है।'[1]

'यह जीव गर्भाशय में अनुप्रविष्ट होकर शुक्र और शोणित से मिलकर अपने से, अपने को गर्भ रूप में उत्पन्न करता है, अतएव गर्भ में इसकी आत्मसंज्ञा होती है।'[2]

१- चरक शा० ४।४:

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय पुनः प्रवर्तते। स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता बोधयिता बोधा द्रष्टा, धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवो अव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्राधान्यमव्यक्तं जीवो ज्ञः प्रकुलश्चेतनावान् प्रभुश्च भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति।

२- चरक शा०, ३।१२: स (आत्मा) गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनात्मानम् आत्मसंज्ञा हि गर्भे।

जन्म- प्राण ग्रहण करने को जन्म कहते हैं ।[१] जन्म तीन प्रकार का होता है-- सम्मुर्च्छन, गर्भज और उपपात ।[२] स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाले जन्म को गर्भ कहते हैं ।[३] संयोग निरपेक्ष तथा बाहरी वातावरण से योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर अनियत स्थान में उत्पन्न होने वाले सम्मुर्च्छन कहलाते हैं ।[४] देवता और नारकी के जन्म को उपपात कहते हैं ।[५] वे अन्तर्मुहूर्त में युवा हो जाते हैं । मनुस्मृति के अनुसार राक्षसों का जरायुज जन्म होता है ।[६]

चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं-[७] (१) अण्डज, (२) पोतज (३) जरायुज,(४) रसज, (५) संस्वेदज, (६) सम्मुच्छिम, (७) उद्भिज्ज (८) उपपातज ।

यद्यपि गर्भव्युत्क्रान्ति के समय ही जन्म हो जाता है लेकिन वह प्रच्छन्न होता है । केवल जरायुज, अण्डज और पोतज जीवों के ही गर्भ होता है ।[८] मनुस्मृति में केवल जरायुज को गर्भज माना है ।[९] गर्भज जीव मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय ही होते हैं ।[१०]

१- भगवती आराधना, २५।८४।१४

२- तत्त्वार्थ सूत्र, २।३१-

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म, सवार्थसिद्धि,

३- स्वार्थ-सिद्धि, २।३१।१८७।४ ।

४- स्थानांग टीका ।

५- सूत्रपाहुड, जैन सिद्धान्त दीपिका, ३।१६

६- मनुस्मृति, १।४३

७- स्थानांग, ८।१: अट्ठविधे जाणिसंगहे पण्णत्ते, तं जहा- अंडगा, पोतगा, जराउजा, रसजा, संसेयगा, संमुच्छिमा उभिगा, उव्वातिया ।

८- तत्त्वार्थ सूत्र, २।३३ - जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।

९- मनुस्मृति, १।४३

१०- ठाणं, २।२५३

गर्भ शब्द का अर्थ--

गर्भ शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है-- भ्रूण, शरीर का जन्म, शुक्र और शोणित का अनुबंध, मांसपिंड, शिशु, कुक्षि, नाटक की संधि, फल, आहार, घर के अन्दर का भाग, कटहल का कांटेदार छिलका, कमल का कोश इत्यादि । टीकाकार अभयदेव सूरि कहते हैं-- सजीव पुद्गल पिण्ड का नाम गर्भ है ।[1] वैदिक मान्यता के अनुसार जीव के संचित कर्म के फलदाता ईश्वर के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा माता के जठर गह्वर में पुरुष के शुक्र का स्थापन गर्भ है ।[2]

गर्भाधान--

वैदिक धर्म के अनुसार धार्मिक क्रिया के साथ पुरुष स्त्री की योनि में वीर्य स्थापित करता है, वह गर्भाधान कहा जाता है ।[3] इसी प्रकार जब रज पुरुष के संयोग से शुक्र मिश्रित होकर स्त्री की कोशाकार योनि में प्रवेश करता है तब गर्भाधान होता है ।[4] दिगम्बर ग्रंथों में ५३ क्रियाओं में गर्भान्वय- गर्भाधान को पहला संस्कार कहा जाता है ।[5]

स्त्री और पुरुष का सहवास होने पर भी गर्भधारण नहीं हो सकता, इसका बहुत विस्तृत विवेचन स्थानांग सूत्र में मिलता है--

१- पूर्ण युवती होने से,
२- विगत यौवना होने से,
३- जन्म से ही वंध्या होने से,
४- रोग से स्पृष्ट होने से,

१- भट्टी, ५. टीका ।
२- हिन्दू धर्मकोश, पृ० २२८
३- वही, पृ० २८८
४- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, ११
५- महापुराण, ३८।५१-६८

५- शोकग्रस्त होने से,[1]   ६- सदा ऋतुमती रहने से,

७- कभी ऋतुमती न होने से,   ८- गर्भाशय नष्ट हो जाने से,

९- गर्भाशय की शक्ति क्षीण हो जाने से,

१०- अप्राकृतिक कामक्रीड़ा तथा अधिक मैथुन सेवन करने से ।[2]

११- ऋतुकाल की निश्चित सीमा तक पुरुष सहवास न रहने से,

१२- समागत शुक्र पुद्गलों के विध्वंस्त हो जाने से,

१३- पित्तप्रधान शोणित के उदीर्ण हो जाने से,

१४- देवप्रयोग से,   १५- पूर्वार्जित कर्मों के उदय से ।[3]

वाग्भट्ट ने आयुर्वेदिक दृष्टि से इस विषय में विस्तृत विवेचन किया है ।[4]

१- ठाणांग ५.१०४: पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं णो धारेज्जा, तं जहा- (१) अप्पत्तजोव्वणा, (२) अतिक्कंतजोव्वणा, (३) जातिवंझा, (४) गेलण्णपुट्ठा, (५) दोमेमणंसिया-- इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संव समाणी वि गब्भ णो धारेज्जा ।

२- ठाणांग, ५.१०५ : पृ० ५७७ :

-- पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं समसंवाणीव णो गब्भ धारेज्जा- तं जहा--

१- णिच्चोउया   २- अणोउया   (३) वावण्णसोया

४- वाविद्धसोया, ५- अणंगपडिसेवणी ।

-- इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं णो धारेज्जा ।

३- ठाणांग, ५.१०६

४- अष्टांग हृदय, १।८-११, २२

गर्भ प्रवेश के समय जीव की स्थिति के बारे में प्रश्न करते हुए गौतम ने पूछा-- भगवान् ! जीव गर्भ में आते समय इन्द्रिय रहित होता है या इन्द्रिय सहित? भगवान् ने कहा- इन्द्रिय सहित भी आता है और इन्द्रिय रहित भी। इसका कारण बताते हुए महावीर ने कहा कि गर्भाधान के समय जीव के द्रव्येन्द्रियां नहीं होतीं, भावेन्द्रियां होती हैं।[1] द्रव्येन्द्रियां बिना आहार के निर्मित नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार शरीर के बारे में उत्तर देते हुए कहा कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर नहीं होता किन्तु तैजस और कार्मण शरीर होता है।[2] गर्भस्थ जीव के बारे में इतना सूक्ष्म और सैद्धान्तिक विवेचन और कहीं नहीं मिलता।

इस विषय में आधुनिक शरीरशास्त्रियों की खोज एवं प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण हैं। स्त्री का डिम्ब तथा पुरुष का शुक्र मिलकर एक कोशिका बन जाती है जिसमें वंशानुगत सभी गुण रहते हैं। उस कोशिका के आधार पर ही व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। गर्भ के बालों का रंग, आंखें, त्वचा, लम्बाई, ठिगनापन, मोटापन या दुबलापन, मूर्खता या बुद्धिमत्ता, आयुष्य, अंग-उपांगों की रचना आदि सभी तत्व उसमें निहित रहते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिकों के अनुसार यह प्रथम क्षण बहुत महत्वपूर्ण होता है।[3]

१- भगवती, १।३४०-४१
गोयमा ! सिय सइं दिए वक्कमइ। सिय अणिं दिए वक्कमइ ।।३४०।।
गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ।
भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ। से तेणट्ठेणं गोयमा। एवं वुच्चइ-
सिय सइं दिए वक्कमइ। सिय अणिंदिए वक्कमइ ।। ३४१ ।।

२- भगवती, १।३४२-४३ गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ सिय असरीरी वक्कमइ ।।३४२।। गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ। तेया-कम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-सिय ससरीरी वक्कमइ। सिय असरीरी वक्कमइ ।।३४३।।

3. Mind Alive, P. 37.

इस प्रकार के गर्भाधान की तुलना पर्याप्तियों से तथा कर्म प्रकृतियों से की जा सकती है। ५५ वर्ष के बाद स्त्री की योनि गर्भाधान के योग्य नहीं रहती तथा ७५ वर्ष बाद पुरुष का वीर्य भी हीन हो जाता है।[१]

गर्भाधान की पूरी प्रक्रिया आयुर्वेदिक ग्रंथों-अष्टांगहृदय,[२] चरक[३] और सुश्रुत[४] में दी गयी है। गर्भाधान के बारे में सुश्रुत का मत है कि दो स्त्रियां भी यदि आपस में मैथुन करें तो उनके रज संयोग से गर्भधारण हो सकता है।[५] इसके अतिरिक्त यदि कोई ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है तो भी उसके आर्तव को वायु लेकर गर्भाशय में गर्भ पैदा कर देता है। इन दोनों गर्भों में पिता के गुण अर्थात् हड्डी, मूंछ, दाढ़ी, नख आदि नहीं होते।[६]

गर्भ के प्रकार-

गर्भ चार रूपों में निष्पन्न होता है- स्त्री, पुरुष, नपुंसक तथा बिम्ब (मांसपिण्ड)।[७] शुक्र की अधिकता से पुत्र, रज या ओज की अधिकता से पुत्री,[८]

१- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, १३।१४ २- अष्टांग हृदय, १।३२-३६

३- चरक, २।२३

४- सुश्रुत, ३।१३ ५- वही, २।५०

६- सुश्रुत, २।५१

७- ठाणं, ४·६४२, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

चत्तारि मणुस्सीगब्भा पण्णत्ता, तं जहा-

इत्थित्ताए, पुरिसत्ताए, णपुंसगत्ताए, बिंबत्ताए।

८- वही, ४·६४२।१-२ :

अप्पं सुक्कं बहुं ओयं, इत्थी तत्थ पजायति।
अप्पं ओयं बहुं सुक्कं पुरिसो तत्थ जायति।।
दोण्हंपि रत्तसुक्काणं, तुल्लभावे णपुंसओ।
इत्थी-ओय समायोगे बिंबं तत्थ पजायति।।

दोनों की मात्रा समान होने से नपुंसक तथा वायु विकार से ओज के जम जाने पर बिम्ब (मांसपिण्ड) पैदा होता है ।[1] जैसे- मृगालोढ़ा । मनुस्मृति,[2] चरकसंहिता,[3] अष्टाङ्गहृदय[4] तथा सुश्रुत[5] में भी इसी मत की पुष्टि की गयी है । मनुस्मृति[6] में इसका एक कारण और बताया है कि स्त्री के मासिक धर्म के बाद समरात्रियों में सम्भोग होने से पुत्र तथा विषम में पुत्री पैदा होती है । भोज ने इसका वैज्ञानिक कारण बताते हुए कहा है कि मासिक धर्म के सम दिनों में रज कम होता है तथा विषम दिनों में उसकी वृद्धि हो जाती है इसलिए सम दिनों में संयोग से पुत्र तथा विषम दिनों में कन्या की उत्पत्ति होती है ।[7]

तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक में स्थान के आधार पर भी इस विषय में विचार किया है । दाहिनी कुक्षि में उत्पन्न होने वाला गर्भ पुरुष रूप में, बांयी में बसने वाला जीव स्त्री तथा कुक्षि के मध्य भाग में रहने वाला नपुंसक होता है ।[8] इसी बात का सुश्रुत में विस्तार से वर्णन मिलता है ।[9] कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी कहा है कि स्त्री के अण्डकोश के दाहिने भाग में ऐसे पदार्थों की स्थिति रहती है जिसमें पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति होती है तथा बांयेभाग में कन्या उत्पन्न करने की शक्ति वाला पदार्थ रहता है ।[10] आधुनिक वैज्ञानिकों के आधार पर भी भ्रूण के लिंग का निर्माण पिता के शुक्र पर आधारित है । Y क्रोमोसोम से पुत्र तथा X क्रोमोसोम से लड़की पैदा होती है । माता के रज में केवल X क्रोमोसोम होता है तथा पिता के शुक्र में X और Y दोनों होते हैं । जब माता के X तथा पिता

१- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक- २२-२३

२- मनु०, ३।४६

३- चरकसंहिता, २।११

४- अष्टाङ्गहृदय, १।५-६

५- सुश्रुत, ३।१०

६- मनुस्मृति, ३।८

७- सुश्रुत, ३।१०, पृ० २१

८- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, १६

९- सुश्रुत, ३।३२, पृ०२७

१०- हिन्दी शब्दसागर, पृ० १२४४

का संयोग होता है तब पुत्र तथा दोनों के x x संयुक्त होने पर पुत्री पैदा होती है ।[१]

एक जापानी वैज्ञानिक के अभिमत से गर्भवती स्त्री अपने संकल्प-बल से गर्भ के भ्रूण को पुत्र या कन्या में परिणत कर सकती है । गर्भधारण के दो महीने के भीतर रात को जब तक नींद न आए, तब तक सोचती रहे कि ''मुझे लड़का होगा'' ''मुझे लड़का होगा''— ऐसा करने से उसे पुत्र उत्पन्न हो सकता है । इस प्रयोग से २००० स्त्रियों में से १६५० स्त्रियों के पुत्र उत्पन्न हुए ।[२] इसी प्रकार लिंग भेद के बारे में एक पाश्चात्य विद्वान् ने अनेक प्रयोग छोटे प्राणियों पर किये कि पुष्टिकर भोजन करने से स्त्री तथा अपुष्टिकर भोजन से पुरुष पैदा होता है । उनका अभिमत है कि यह प्रयोग स्त्रियों पर भी सफल हो सकता है ।[३]

प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के अनुसार उत्तरी हवा चलते समय गर्भाधान हो जाए तो वह बच्चा पुत्र रूप में पैदा होता है । इसके अतिरिक्त और भी अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं लेकिन वे तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरतीं अतः उनको यहां प्रस्तुत नहीं किया गया ।

स्त्री के गर्भ की भांति उदग के भी चार प्रकार के गर्भों का उल्लेख मिलता है-- १- ओस, २- मिहिका-कुहासा, ३- अतिशीत, ४- अतिउष्ण । दूसरे प्रकार से भी चार भेद किये गये हैं-- १- हिमपात, २- आकाश का बादलों से ढके रहना, ३- अतिशीतोष्ण, ४- गर्जन, विद्युत्, जल, वात का संयुक्त योग । ये चारों गर्भ क्रमशः माघ, फाल्गुन, चैत्र तथा वैशाख के महीने में होते हैं ।[४]

१- Mind Alive, p. 37.

२- होमियोपैथिक पारिवारिक चिकित्सा, पृ० ६६६

३- The Ascent of Man, p. 114-115.

४- ठाणं, ४।६४०-६४१ गा० १

गर्भ का उत्पत्ति स्थान- योनि--

गर्भ के उत्पत्ति-स्थान को योनि कहते हैं। ठाणं सुत्र में योनि तीन प्रकार की बतलाई है-[१]

१- कूर्मोन्नत-- कछुए के समान उन्नत। इसमें अर्हत् चक्रवर्ती जैसे उत्तम पुरुष उत्पन्न होते हैं।

२- शंखावर्त-- शंख के समान आवर्त वाली। इस योनि में अनेक जीव उत्पन्न होते हैं लेकिन निष्पन्न नहीं होते। अर्थात् इसयोनि में बच्चा पैदा करने की योग्यता नहीं होती।

३- वंशीपत्रिका-- बांस की जाली के पत्रों के आकार वाली। यह प्राय: सामान्य स्त्रियों के होती है तथा इसमें सामान्य व्यक्ति जन्म लेते हैं।

इसके अतिरिक्त सभी प्राणियों की अपेक्षा से भी योनि के नौ भेद किये गये हैं।[२] अपेक्षा भेद से अण्डज, पोतज, जरायुज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम और उद्भिज आदि आठ योनियां होती हैं।[३] इनमें गर्भस्थ जीव केवल अण्डज, पोतज और जरायुज इन तीन योनियों में ही जन्म लेते हैं।[४]

तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक में योनि की रचना का उल्लेख मिलता है। स्त्री की नाभि के नीचे फूल की डंडी के समान आकार वाली दो नाड़ियां होती हैं। उन दोनों नाड़ियों के निचले भाग में योनि होती है। योनि का मुख नीचे होता है तथा आकार तलवार की म्यान के समान होता है।[५]

१- ठाणं, ३।१०३, प्रज्ञापना ६
२- ठाणं, ३।१००-१०२
३- वही, ८।३
४- तत्त्वार्थ सुत्र, २
५- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, गा० ६

आयुर्वेद के शब्दों में जैसे रोहू मछली का शिरा भीतर की तरफ विस्तृत तथा मुख की तरफ संकुचित होता है, वैसे ही गर्भाशय का आकार होता है।[1] सुश्रुत के अनुसार पित्ताशय और पक्वाशय के बीच गर्भाशय होता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार गर्भाशय मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। गर्भाशय के चारों ओर तीन आवरण होते हैं। यह आवरण रस और त्वचा से बनता है; दूसरा स्नायुमंडल से तथा तीसरा बलगमी त्वचा से बनता है।[2] वैज्ञानिक जिस रूप में गर्भाशय की रचना का उल्लेख करते हैं वह तंदुलवैचारिक से मिलता है।

जीवोत्पत्ति की संख्या

एक बार संभोग से स्त्री योनि में १, २ यावत् ६ लाख जीवों की उत्पत्ति होती है।[3] उनमें एक, दो या तीन निष्पन्न होते हैं। शेष समाप्त हो जाते हैं। वैज्ञानिक खोजों के अनुसार वीर्य जन्तु एक इंच के ६००वें भाग के बराबर होता है। एक बार के संभोग से निकलने वाले वीर्य में इनकी संख्या करोड़ों तक की होती है। लेकिन स्त्री की डिम्ब-ग्रन्थियों से एक मास में एक ही डिम्ब निःसृत होता है। उसके संयोग से ही गर्भ की रचना होती है।[4]

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की--'इतने जीव एक साथ उत्पन्न कैसे हो जाते हैं? महावीर ने कहा--'संभोग करने से रज संयुक्त पुरुष-वीर्य से स्त्री योनि में लाखों जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।'[5] भगवती जोड़ में भी जयाचार्य ने एक प्रश्न उठाया है कि भरत के सवा करोड़ पुत्र कैसे हुए? स्वयं ही उत्तर देते हुए

१- गर्भ विज्ञान, पृ० ३

२- नया स्वास्थ्य और दीर्घायु, पृ० ८४

३- भगवती २।८७, तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक १२

४- Mind Alive, p. 17.

५- भगवती, २।८८

जयाचार्य कहते हैं कि रुधिर और शुक्र दोनों के मिलने से उत्कृष्ट नौ लाख गर्भज जीव उत्पन्न होते हैं। अन्त में उन्होंने कहा कि बहुश्रुत कहे वह सत्य है।[1]

मछली आदि की योनि में एक बार संभोग से ही २ लाख से लेकर ६ लाख तक जीव निष्पन्न हो जाते हैं तथा मछली एक ही भव में नौ लाख जीवों को उत्पन्न कर सकती है। इतने जीव उत्पन्न होने पर भी निष्पन्न न होने का कारण बताते हुए महावीर कहते हैं कि जैसे रुई भरी नलिका में कोई तप्त शलाका डाले तो वह नष्ट हो जाती है, वैसे ही संभोग से योनिगत जीव नष्ट हो जाते हैं।[2]

गौतम महावीर से जिज्ञासा करते हैं कि एक ही भव में एक पुत्र के कितने पिता हो सकते हैं? महावीर ने कहा-- एक ही पुत्र एक, दो, तीन यावत् नौ सौ पिताओं का पुत्र हो सकता है।[3] इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि मानुषी या गाय आदि की योनि १२ मुहूर्त तक सचित्त रहती है। कोई दृढ़ संहनन वाली कामातुर स्त्री या गाय १२ मुहूर्त के भीतर ६०० पुरुषों से संयोग करें, तो उसके गर्भ से जो पुत्रउत्पन्न होगा, वह नौ सौ पिताओं का पुत्र होगा।[4]

देवताओं के शुक्र तो होता है लेकिन वैक्रिय शरीर होने के कारण वह गर्भाधान का हेतु नहीं बनता।[5] श्रुति परम्परा से सुना जाता है कि मानवी और देवता का संयोग होने से गर्भ केवल सात मास तक रहता है, उसके बाद नष्ट हो जाता है, किन्तु वैदिक साहित्य में कर्ण का जन्म सूर्य के संयोग से माना जाता है तथा देवांगनाओं कीगर्भधारण का उल्लेख मिलता है। जैसे- मेनका से शकुन्तला की उत्पत्ति हुई। ऐसे और भी अनेकउदाहरण मिलते हैं।

१- भगवती जोड़, पृ०२५४
२- भगवती, २।५६
३- वही, २।५६
४- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, १५ व भगवती, २।५६
५- भटी, पृ० १३४-१३५

गर्भाधान की कृत्रिम प्रक्रिया--

गर्भाधान की पद्धति दो प्रकार की है— स्वाभाविक और कृत्रिम। कृत्रिम पद्धति से बिना स्त्री-पुरुष के संयोग के भी गर्भाधान हो सकता है। स्थानांग में इसके पांच कारणों का उल्लेख मिलता है।[1]

१- पुरुष का वीर्य जहां पड़ा हो वहां अनावृत गुह्य प्रदेश से बैठी हुई स्त्री की योनि में यदि शुक्र पुद्गलों का प्रवेश हो जाय तो गर्भधारण हो सकता है।

२- पुरुष के वस्त्र जिसमें उसका वीर्य संसृष्ट हो, उस वस्त्र को पहनने से शुक्र पुद्गल यदि योनि में प्रविष्ट हो जाये तो गर्भाधान हो सकता है।

३- सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से स्वयं अपने हाथों से स्त्री शुक्र पुद्गलों को योनि देश में प्रविष्ट कराये तो गर्भ धारण हो सकता है।

४- दूसरों के द्वारा शुक्र पुद्गलों को योनि प्रदेश में प्रविष्ट कराने पर। विदेशों में आजकल यह प्रयोग बहुत चल रहा है। वैज्ञानिक लोगों ने तो यहां तक प्रयोग कर लिया है कि दम्पत्ति के शुक्र और वीर्य को किसी तीसरी स्त्री की योनि में प्रक्षेप कर दिया जाता है, जिससे ९ मास का कष्ट न उठाना पड़े। पशु-पक्षियों पर भी कृत्रिम गर्भाधान के अनेक प्रयोग हुए हैं।

५- नदी, तालाब आदि जहां स्त्री और पुरुष स्नान कर रहे हों, वहां अनावृत स्नान करते हुए स्त्री की योनि में शुक्र पुद्गलों का प्रवेश होने से गर्भ धारण हो सकता है।

१- ठाणं, ५।१०३

इसके अतिरिक्त बिना स्त्री की योनि के ही वैज्ञानिकों ने प्लास्टिक की थैली में बच्चे को जन्म दिया। यह प्रयोग १६ फरवरी सन् १९४५ को कैनाडा के फ्रांसीसी डाक्टर प्रोफेसर गेगनान ने अपनी प्रयोगशाला में किया। उन्होंने स्त्री के रज तथा पुरुष वीर्य के जीवित परमाणुओं को एकत्रित किया। स्त्री के खून में बच्चा बनने के योग्य कीटाणु मास में एक बार ही बनते हैं। उन्होंने इसका पता लगाने के लिये बिजली का यंत्र बनाकर अपनी स्त्री की कमर में बांध दिया। खून में कीटाणु पैदा होते ही खून का रंग बदल गया। डा० गेगनान ने फौरन यंत्र के माध्यम से उसे निकाल कर फिर अपने वीर्य-कीटाणु के साथ उसे प्लास्टिक की थैली में रख दिया। रखते ही वे दोनों कीटाणु एकाकार होकर थैली से चिपक गए। थैली का आकार बतख के अंडे जैसा था तथा लचकीली होने से उसमें वृद्धि हो सकती थी। उसके दोनों ओर दो छिद्र थे जिनमें दो नलियां लगाकर उनका सम्बन्ध दांयी और बांयी तरफ विद्यमान थर्मोस जैसी बोतलों से तथा बिजली के यंत्र से जोड़ दिया। उस थैली को एक कांच की पेटी में सुरक्षित रख दिया। थर्मोस की शीशी की भांति पेटी में भी दुहरी दीवारें थीं। उन दीवारों के बीच एक खास प्रकार का तैल भरकर उस पेटी के साथ बिजली का हीटर लगा दिया जिससे तैल हर समय गर्म रह सके। बच्चे की खुराक के लिए अपनी स्त्री का एक पौंड खून लेकर पार्श्ववर्ती एक बोतल में भर दिया तथा दूसरी में चूने आदि आवश्यक पदार्थ रख दिये, जो खून के साथ मिश्रित होकर बच्चे की खुराक बन सकें। हर तीन चार सप्ताह के बाद वैज्ञानिक एक पौंड खून उस बोतल में भर देता। यह क्रम नौ मास तक चालू रखा। बच्चे की वृद्धि होने पर खून की मात्रा भी बढ़ाई गई नौ मास पूर्ण होने पर बच्चे को थैली से बाहर निकाला। उसका नाला काटा तथा स्त्री के स्तन में भी इंजेक्शन द्वारा दूध की उत्पत्ति कर दी। वह बच्चा बड़ा होने पर जिन्दा रहा। यह वैज्ञानिक जगत् की एक आश्चर्यजनक घटना थी लेकिन आज तो इस दिशा में विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है।

गर्भस्थ शिशु का अंग निर्माण-

जिस प्रकार भवन निर्माण के लिए अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गर्भस्थ शिशु के मातृज, पितृज, सात्म्यज, रसज और सत्वज अंग होते हैं ।[1]

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा-- भंते ! गर्भस्थ जीव माता के कितने अंग प्राप्त करता है? भगवान् ने उत्तर दिया-- गौतम ! जीव माता से तीन अंग प्राप्त करता है-- मांस, शोणित और भेजा (मस्तिष्कीय मज्जा) तथा पिता से भी तीन अंग ग्रहण करता है- अस्थि, अस्थि-मज्जा तथा बाल, (दाढ़ी, रोम, नख आदि) ।[2] शेष सभी अंग रज और वीर्य से बनते हैं ।[3]

चरक, सुश्रुत तथा अष्टांग हृदय में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है । इनके अनुसार मांस, शोणित, मेद (मस्तिष्कीय मज्जा) नाभि, हृदय, यकृत, प्लीहा, गुर्दे, वस्ति, आंतें आदि मृदु भाग माता से उत्पन्न होते हैं । केश, दाढ़ी, लोम, अस्थि, नख, दांत, स्नायु, धमनी और शुक्र आदि स्थिर भाग पुरुष से प्राप्त होते हैं ।[4] इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के अनुसार इन्द्रियां, नाना योनियों में जन्म आदि चेतना से सम्बन्धित हैं । आयु, आरोग्य, उद्योग, उत्साह, कांति, बल, सात्म्य से प्रादुर्भूत होते हैं । शरीर निर्माण, वृद्धि, बल आदि रसज हैं । इसी प्रकार सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से विभिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का निर्माण होता है ।[5] चरक में इसका बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है ।[6]

१- भटी, पृ० १३४-१३५

२- भगवती, १।३५०-५२, तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, सू० ६

३- वही ।

४- चरक, ३।१०-११, सुश्रुत, ३।३० अष्टांग हृदय, ३।४-५

५- अष्टांग, ३।५-८, सुश्रुत, ३।३१

६- चरक, ३।१३-२०, पृ० १६२८-४०

आधुनिक शरीरशास्त्रियों के अनुसार गर्भरचना में ४६ क्रोमोसोम (गुणसूत्र) की आवश्यकता होती है। इसमें जीव २३ गुणसूत्र माता से तथा २३ गुणसूत्र पिता से ग्रहण करता है[१]। विज्ञान अभी वहां तक नहीं पहुंचा है कि कौनसा अंश माता से और कौनसा अंश पिता से ग्रहण करता है।

गर्भावस्था की स्थिति--

सामान्यत: गर्भ की स्थिति २७७ $\frac{1}{2}$ दिन की बताई गई है। किन्तु वात, पित्त, कफ आदि के दोष से कम या अधिक दिन भी लग सकते हैं।[२] आगमों में जहां भी गर्भवती स्त्री का वर्णन है, वहां ६ महीने पूर्ण तथा साढ़े ७ दिन व्यतीत होने पर बच्चे के जन्म का उल्लेख मिलता है।[३]

भगवती सूत्र के अनुसार तिर्यंच की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट आठ वर्ष की बतायी गयी है।[४] मनुष्य की गर्भ स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।[५] काय भवस्थ की गर्भ स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट चौबीस वर्ष की है।[६] इसका स्पष्टीकरण करते हुये टीकाकार कहते हैं कि कोई जीव गर्भ में बारह वर्ष बिताकर मर जाता है, फिर जन्म लेकर बारह वर्ष और रहता है, वह कायभवस्थ अधिक से अधिक चौबीस वर्ष तक गर्भ में रह जाता है। टीकाकार ने कायभवस्थ के बारे में एक और मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि कोई जीव बारह वर्ष तक गर्भ में निवास करता है, फिर मर कर किसी अन्य पुरुष के संयोग से उसी माता के शरीर में १२ वर्ष और रहता है

१- Human Anatomy and Physiology- MIR, MOSCOW.

२- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक-- ४

३- भगवती, ११।१४६, ज्ञाता० १।१।७३

४- भगवती, २।८२

५- वही, २।८३, तंदुल वैचारिक प्रकीर्णक गा० १५

६- भगवती, २।८४

वह भी कायभवस्थ कहलाता है ।[1] इसी प्रसंग में उदक-पानी के गर्भ की स्थिति भी जघन्य एक समय और उत्कृष्ट ६ मास बतायी गयी है ।[2] शरीर विज्ञान के अनुसार गर्भ की सामान्य स्थिति २८० दिन की मानी जाती है ।[3] योनिभूत वीर्य की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट बारह मुहूर्त होती है ।[4] विज्ञान के परीक्षणों के अनुसार वीर्य कीटाणु योनि में २४ घंटे तक जीवित रह सकते हैं तथा गर्भाशय ग्रीवा पर ७२ घंटे तक चलते हुए देखे गये हैं ।[5] दिगम्बर आचार्य के अनुसार संभोग के सात दिन बाद भी गर्भ की स्थिति रह सकती है तथा स्वयं व्यक्ति मर कर भी अपनी पत्नी के गर्भ में उत्पन्न हो सकता है । यह बात तर्क संगत प्रतीत नहीं होती ।[6]

गर्भस्थ जीव का आसन-- गर्भस्थ जीव गर्भाशय में उत्तानपाद, पार्श्वशायी या आम्रकुब्ज आसन की अवस्था में अवस्थित रहता है । वह माता के सोने पर सोता है, तथा जागने पर जागता है ।[7] प्रसवण के समय कुछ जीव सिर की ओर से तथा कुछ पैर के बल पर जन्म लेते हैं तथा जो तिर्यक् स्थिति में बाहर निकलते हैं, वे प्रायः मर जाते हैं ।[8] जीव जब स्त्री की योनि से बाहर निकलता है तब रुदन करता है तथा माता को अत्यन्त वेदना होती है ।[9]

गर्भस्थ शिशु का आहार और नीहार-- आहार और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । बिना आहार के प्राणी विकसित नहीं होता, जीव जब गर्भ में व्युत्क्रांत

१- वही, पृ० १३३
२- भगवती, २।८१
३- Mind Alive, p. 40.
४- भगवती, २।८५
५- गर्भविज्ञान, पृ० २५
६- यशोधराचरित्र, पृ०१०९
७- भगवती, १।३५७, तंदुल गा० १९
८- भगवती, १।३५७
९- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक,गा० २६

होता है तब माता का ओज तथा पिता के वीर्य का संयुक्त आहार ग्रहण करता है ।[1] गर्भस्थ होने के बाद माता जो भी आहार ग्रहण करती है, उसका ओज रूप आहार शिशु ग्रहण करता है ।[2] गर्भगत जीव मुख से आहार ग्रहण नहीं करता ।[3] वह सभी ओर से प्रतिक्षण आहार ग्रहण करता है, परिणमन करता है, तथा उच्छ्वास और निःश्वास लेता है ।[4] आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी योनि में नमक और शर्करा का द्रव भरा होता है जिससे गर्भ आचुषण क्रिया द्वारा अपना पोषण करता है ।[5] यह क्रिया चार सप्ताह तक चलती है, उसके बाद रक्त-वाहिनियों और नाल का निर्माण होता है ।

भगवती आराधना के अनुसार दांत से चबाया तथा कफ से गीला माता के द्वारा भुक्त आहार उदर में पित्त मिलने से कड़वा हो जाता है । वह कड़वा अन्न एक-एक बूंद करके गर्भस्थ बालक पर गिरता है । वह उसे सर्वांग से ग्रहण करता है ।[6] आधुनिक भाषा में इसे रालही कहा जाता है । शिशु के पोषण के लिए दो नाल होती हैं-- माता की रसहरणी अर्थात् नाभिका नाल तथा पुत्र रसहरणी । माता की नाल द्वारा रस-ग्रहण तथा परिणमन किया जाता है, वह नाल माता के शरीर के साथ प्रतिबद्ध होती है और गर्भस्थ शिशु से स्पृष्ट रहती है । दूसरी गर्भस्थ शिशु की नाल या नाड़ी शिशु के शरीर के साथ प्रतिबद्ध तथा माता के शरीर से स्पृष्ट रहती है । इस नाड़ी से शिशु शरीर की पुष्टि करता है ।[7] इस नाड़ी का वर्णन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी मिलता है ।[8] दिगम्बर ग्रंथों के अनुसार यह सातवें महीने में पैदा होती है जिससे शिशु आहार ग्रहण कर अपना पोषण करता

१- भगवती, १।३४४

२- वही, १।३४५

३- वही, १।३४८

४- वही, १।३४६

५- Mind Alive, P. 37

६- भगवती आराधना, १०११-१०१६

७- भगवती, १।३४६

८- सुश्रुत, ३।२६, चरक ६।२३

है ।[1] वैज्ञानिकों के अनुसार भी बच्चे और माता के बीच खून का संचार नाभिनाल द्वारा ही होता है, लेकिन यह नाल प्रथम मास के अन्त में बनती है[2]। इसी नाल के सहारे भ्रूण गर्भाशय की दीवार से लटका रहता है तथा इसी से माता और गर्भ के हृदयों का सम्बन्ध स्थापित होता है ।[3]

आधुनिक शरीरशास्त्रियों ने गर्भनाल के निम्न कार्य बताए हैं:-

१- माता का रक्त तथा आक्सीजन भ्रूण तक पहुंचाता है, तथा पोषण का काम करता है ।

२- भ्रूण के शरीर में उत्पन्न हुई कार्बनडाइआक्साइड तथा चयापचय से उत्पन्न त्याज्य पदार्थ माता के रक्त में वापस लौटता है अर्थात् उत्सर्जन का कार्य करता है ।

३- अवरोधक का काम करता है, माता के रक्त का विष भ्रूण के शरीर में नहीं जाने देता ।

४- गर्भनाल में एक अंत:स्रावी रस या हारमोन बनता है, जो भ्रूण की वृद्धि करता है ।[4]

भगवान् महावीर से पूछा गया कि क्या गर्भस्थ शिशु उच्चार प्रस्रवण अर्थात् नीहार करता है? महावीर ने उत्तर दिया-- गर्भगत जीव उच्चार प्रस्रवण श्लेष्म आदि का त्याग नहीं करता, क्योंकि वह जो भी आहार ग्रहण करता है वह उसके शरीर, इंद्रिय, अस्थि, अस्थिमज्जा, रोम, नख आदि के रूप में परिणत हो जाता है ।[5]

१- भगवती आराधना, १०१६
२- Mind Alive, P. 39.
३- गर्भ-विज्ञान, पृ० १६५-१६६
४- हिन्दी विश्व कोश, ३६८
५- भगवती, १।३४७

मैथुन का सेवन करने वाले व्यक्ति-

तीन प्रकार के व्यक्ति मैथुन का सेवन करते हैं:-[1]

१- स्त्री २- पुरुष और ३- नपुंसक

वृत्तिकार ने स्त्री, पुरुष और नपुंसक के लक्षणों का संकलन किया है, उसके अनुसार स्त्री के सात लक्षण हैं[2]-- १- योनि, मृदुता, ३- अस्थिरता, ४- मुग्धता, ५- क्लीवता, ६- स्तन, ७- पुरुष के प्रति अभिलाषा ।

पुरुष के सात लक्षण हैं--[3] १- लिंग, कठोरता, दृढ़ता, ४-पराक्रम, ५- दाढ़ी और मूंछ, ६- धृष्टता, ७- स्त्री के प्रति अभिलाषा ।

नपुंसक के ये लक्षण हैं:-[4]

१- स्तन और दाढ़ी-मूंछ कुछ अंशों में होते हैं, परन्तु पूर्ण विकसित नहीं होते ।

२- प्रज्वलित कामाग्नि ।

१- ठाणांग, ३-१२, मैथुन-पद: पृ० १५६:

-- तेओ मेहुणं सेवंति, तं जहा--

इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा ।

२- स्थानांगवृत्ति, पत्र १००:

-- योनि र्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धत्वं क्लीवता स्तनौ ।

पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ।।

३- वही, पत्र १००:

मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रुधृष्टता ।

स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ।।

४- वही, पत्र १००

-- स्तनादिश्मश्रुकेशादि भावाभावसमन्वितम् ।

नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम् ।।

चौरासी लाख योनि--

प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान ८४ (चोरासी) लाख हैं[१] और उनके कुल एक करोड़ सत्तानवे लाख पचास हजार (१९७५००००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं, जैसे- गोबर एक ही योनि है, उसमें कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं। जैसे-

स्थान	उत्पत्ति-स्थान	कुल-कोटि
१- पृथ्वी काय	७ लाख	१२ लाख
२- अप्काय	७ लाख	७ लाख
३- तेजसकाय	७ लाख	७ लाख
४- वायु काय	७ लाख	७ लाख
५- वनस्पति काय	२४ लाख	२८ लाख
६- द्वीन्द्रिय	२ लाख	७ लाख
७- त्रीन्द्रिय	२ लाख	८ लाख
८- चतुरिन्द्रिय	२ लाख	९ लाख
९- तिर्यंच पंचेन्द्रिय	४ लाख	जलचर- १२।। लाख
		खेचर- १२ लाख
		स्थलचर- १० लाख
		उर-परिसर्प- ९ लाख
		भुज-परिसर्प- ९ लाख
१०- मनुष्य	१४ लाख	१२ लाख
११- नारक	४ लाख	२५ लाख
१२- देव	४ लाख	२५ लाख

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं विभिन्नता का होना असम्भव नहीं।

शरीर-इन्द्रिय रचना एवं मानसज्ञान--

प्रस्तुत आलापक में शरीर-रचना और इन्द्रिय तथा मानस-ज्ञान के विकास का सम्बन्ध प्रदर्शित है-[1]

जीव	बाह्य (स्थूल) शरीर	इन्द्रिय-ज्ञान
१- एकेन्द्रिय- (पृथ्वी, अप तेजस् वायु, वनस्पति)	औदारिक	स्पर्शन ज्ञान
२- द्वीन्द्रिय	औदारिक (अस्थि, मांस शोणित युक्त)	रसन, स्पर्शन ज्ञान।
३- त्रीन्द्रिय	औदारिक (अस्थिमांस, शोणित युक्त)	घ्राण, रसन, स्पर्शन ज्ञान
४- चतुरिन्द्रिय	औदारिक (अस्थिमांस, शोणित युक्त)	चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ज्ञान
५- पंचेन्द्रिय (तिर्यंच)	औदारिक (अस्थिमांस, शोणित, स्नायु, शिरायुक्त)	श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शनज्ञान
६- पंचेन्द्रिय (मनुष्य)	औदारिक (अस्थि मांस शोणित स्नायु शिरायुक्त)	श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ज्ञान।

जीवों के शारीरिक इन्द्रियों की वृद्धि के साथ-साथ उनका मानस-ज्ञान भी बढ़ता जाता है।

१- ठाणं टिप्पण, पृ०१२५।

गर्भस्थ शिशु के विकास का क्रम--

गर्भगत जीव के विकास का क्रम अद्भुत है। आज तो विज्ञान ने टू-डी-अल्ट्रा-साउंड यंत्र का विकास कर लिया है जिसके सहारे वीडियोस्क्रीन पर गर्भस्थ बच्चे के विकास की पूरी प्रक्रिया देखी जा सकती है। इस यंत्र का आधार अति सूक्ष्म ध्वनि-तरंगें हैं जिनके आधार पर शिशु के प्रत्येक स्पंदन, स्थिति आदि फिल्म की भांति प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। इस सारी प्रक्रिया को अब वीडियो कैसेट में स्थायी रूप से रिकार्ड किया जा सकता है। इसके आधार पर यदि १२ या १३ सप्ताह के गर्भ में कोई विकृति दिखाई देती है, तो उस स्थिति में निवारक कदम उठाए जा सकते हैं। लेकिन प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने बिना यंत्रों की सहायता के अपने अतीन्द्रिय ज्ञान से जो गर्भस्थ शिशु के विकास का वर्णन किया, वह अपने आप में विलक्षण है।

प्रकीर्णक के अनुसार विकास का क्रम इस प्रकार है-- गर्भस्थ जीव प्रथम सप्ताह में कलल रूप में रहता है। दूसरे सप्ताह में अर्बुद रूप में, तीसरे में पेशी तथा चौथे सप्ताह में चतुष्कोण मांसपिंड के रूप में प्रकट हो जाता है।[1]

उसके पश्चात् दूसरे मास में वह मांसपिण्ड बढ़कर समचतुरस्र हो जाता है। वैज्ञानिक परीक्षणों के अनुसार तो दो मास के बच्चे का हृदय धड़कने लगता है। इस मास में मस्तिष्क तथा सुषुम्ना तेजी से बढ़ती है, तथा उसके अवयवों की रचना आरम्भ हो जाती है। इसी मास में लिंग के चिह्न प्रकट होते हैं।[2] तीसरे मास में माता को दोहद उत्पन्न होता है। शरीरशास्त्रियों के अनुसार तीसरे मास में मांसपेशियां तथा नाड़ी संस्थान का तेजी से विकास होता है। प्राय: सभी अवयवों की रचना पूर्ण हो जाती है। चौथे मास में माता के अंग

१- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक- गा० १७ सू० २

२- Mind Alive, P. 38.

पुष्ट होते हैं । पांचवें में पांच अंग (दो हाथ, दो पैर तथा सिर) उत्पन्न होते हैं । छठे मास में पित्त और रक्त पुष्ट होता है । आधुनिक विज्ञान की खोज के अनुसार छठे मास में बच्चा सर्वांग पूर्ण हो जाता है । यदि इसी मास में जन्म हो जाये, उचित पोषण और वातावरण मिले तो वह जीवित रह सकता है ।[१] सातवें मास में ६०० नसें, ५०० पेशियां तथा ६ धमनियां उत्पन्न होती हैं तथा सिर के बाल, दाढ़ी, मूंछ आदि रोमकूपों को छोड़कर ९९००००० रोमकूप उत्पन्न हो जाते हैं । यदि सिर के बाल व दाढ़ी मूंछों को गिनें तो साढ़े तीन करोड़ रोमकूप उत्पन्न होते हैं । आठवें मास में गर्भ प्राय: पूर्ण हो जाता है ।

भगवती आराधना के अनुसार प्रथम मास में गर्भ कलल, द्वितीय में अर्बुद, तीसरे में सघन तथा चौथे में मांसपेशी का रूप धारण कर लेता है । पांचवे मास में पांच मुख्य अवयव तथा छठे में उपांग प्रकट होते हैं । सातवें मास में अवयवों पर चर्म व रोम तथा आठवें में हिलना डुलना प्रारम्भ हो जाता है तथा दसवें मास में बच्चा बाहर आ जाता है ।[३]

आयुर्वैदिक शास्त्रों में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की गई है । उनके अनुसार प्रथम मास में कलल तथा दूसरे मास में मांसपिंड के तीन आकार बनते हैं-- १- पिण्ड २- पेशी, ३- अर्बुद । पिंडाकार से पुरुष, पेशी से स्त्री तथा अर्बुद से नपुंसक गर्भ बनता है ।[४] तीसरे मास में पांच अवयव व्यक्त होते हैं तथा उपांग अव्यक्त रहते हैं । इस मास में भ्रूण को सुख दु:ख का अनुभव होने लगता है । चौथे मास में अंग-प्रत्यंगों का विभाग व्यक्त होने लगता है । पंचम मास में चेतना की अभिव्यक्ति होती है । छठे मास में स्नायु, शिरा, रोम, नख, त्वचा आदि बनते हैं । सातवें मास में सर्वांग पूर्ण हो जाता है । आठवें और नवें मास में शरीर की पुष्टि होती है ।[५]

१- Mind Alive, P. 38-39.
२- तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक, सू० २
३- भगवती आराधना, १००७-१०१०
४- अष्टांग, २।४९-५३, सुश्रुत ३।१५
५- अष्टांग, २।५४-६८

गर्भस्थ जीव पर बाह्य वातावरण का प्रभाव--

गर्भस्थ जीव पर बाह्य वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि गर्भ में ही जीव मृत्यु अवस्था को प्राप्त कर ले तो वाह्य वातावरण के अनुसार उत्पन्न विचारों के आधार पर ही स्वर्ग और नरक की प्राप्ति करता है। भगवती सूत्र में यह प्रसंग बहुत रोचक और मननीय है। 'कोई गर्भवासी जीव जो संज्ञी और पर्याप्त हो जाता है, उस समय किसी शत्रु की सेना का शब्द सुनकर वह वैक्रिय शरीर की विकुर्वणा करके अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालता है और चतुरंगिणी सेना बनाकर शत्रु की सेना के साथ संग्राम करता है। उस समय उसमें राज्य, भोग तथा धन की इच्छा जागृत हो जाती है। उन परिणामों में वह आयुष्य पूर्ण करे तो नरक में जाता है।'[1]

यह केवल काल्पनिक तथ्य नहीं है। महाभारत में भी एक प्रश्न मिलता है कि अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदन की विद्या सीख ली थी। माता को नींद आने से वह विद्या अधूरी हो सीखी गयी। इसी प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तियां पूर्ण करने के पश्चात् वैक्रिय-लब्धि और अवधिज्ञान के द्वारा किसी श्रमण से धार्मिक प्रवचन सुनकर वह उस पर श्रद्धा कर लेता है, तथा गर्भ में ही उसके स्वर्ग और मोक्ष की इच्छा जागृत हो जाती है।[2] कल्पसूत्र में भी महावीर के जीवन-प्रसंग में वर्णन आता है कि महावीर माता के कष्ट की कल्पना करके गर्भावस्था में निश्चल, निस्पन्द, शांत और स्थिर हो गए।''[3]

गर्भ का हलन-चलन न देखकर त्रिशला दुःखी होकर आर्तध्यान करने लगी। यह देखकर महावीर ने पुनः हलन-चलन प्रारम्भ कर दिया और उसी समय संकल्प लिया कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करूंगा।[4]

१- भगवती सूत्र, ३५३-५४ २- वही, २५५-५६

३-- कल्पसूत्र, ८७, तए णं समणे भगवं महावीरे माउअणुकंपणट्ठाए निच्चले

प्राचीन आगमों में ही नहीं बल्कि आज तो वैज्ञानिकों ने भी इस क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं। आज गर्भावस्था में ही टेप द्वारा शिशु को पढ़ाया जाता है।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के प्रोफेसर डाक्टर नोवेल जांस ने लास एंजिल्स में लाख २७ हजार से अधिक नवशिशुओं पर परीक्षण किया। उससे पता चला कि शान्त स्थानों पर और शान्त रहने वाली स्त्रियों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे तथा तेज स्वभाव वाली स्त्रियों के बच्चों में अधिक विकृतियां पाई गयीं। बम्बई के चिकित्सक डा० वाई० टी० ओ० के० का कहना है कि अत्यधिक शोर गर्भस्थ बच्चे में शारीरिक, मानसिक और व्यावहारिक गड़बड़ियां पैदा करता है तथा बच्चा बहरा पैदा होता है। नाड़ी की गति और रक्त चाप भी बढ़ जाता है।

गर्भवती के मनोभावों का प्रभाव--

माता के मनोभावों से गर्भ बहुत अधिक प्रभावित होता है। आगमों में गर्भिणी स्त्री के प्रसंग में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है कि इस समय चिन्ता, शोक, दीनता, मोह, भय और त्रास का अनुभव नहीं करना चाहिए।[१] शोक, रोग, मोह, भय और त्रास आदि न करने से गर्भ सुखपूर्वक बढ़ता है।[२] वैज्ञानिक यन्त्रों के द्वारा देखा गया है कि जब गर्भिणी को भूख, प्यास, भय या चिन्ता होती है, उस समय गर्भ का फड़कन बढ़ जाता है।[३]

मृगापुत्र के गर्भ का यदि वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो यह प्रतीत होगा कि उसे जात्यंध, मूक, बधिर, पंगु तथा विकलांग जन्मने का कारण उसकी माता के मनोभाव थे। मृगादेवी की कुक्षि में जब मृगापुत्र का जीव आता है,

---

१- ज्ञाता, १।१।७२, कल्पसूत्र, ६२
२- भगवती, ११।१४५, सुश्रुत, २।५२
३- गर्भविज्ञान, पृ० १३४-३५

तब माता के शरीर में विपुल वेदना उत्पन्न हो जाती है तथा उसका पति 'विजय' उससे बात करना तो दूर, देखना भी नहीं चाहता । उसके मन में चिन्तन आता है कि यह सब स्थिति गर्भस्थ जीव के कारण ही हुई है । इसी लिए वह गर्भ के प्रति अनिष्ट की भावना से गर्भपात करना चाहती है, उसे मारना चाहती है तथा भीतर ही भीतर गर्भ को गलाना चाहती है । इसके लिए अनेक खारे, कड़वे, तिक्त पदार्थ खाती है, लेकिन गर्भपात नहीं होता । आखिर दुःखी मन से गर्भ का वहन करती है । सम्भव लगता है इसी कारण गर्भ में मृगापुत्र के शरीर के अनेक स्थलों से खून और मवाद बहने लगा तथा अग्निक नामक व्याधि हो गई ।[१]

हाल ही में अमेरिका में साइलेण्ट स्क्रीन नामक फिल्म तैयार की गयी । उसमें डा० नेथनसन ने परीक्षण किया है कि तीन महीने के भ्रूण का यदि गर्भपात करने का प्रयत्न किया जाता है तो वह मुख-छिद्र से चीखता है, रोता है तथा हथियार को देखकर बचने की कोशिश करता है ।[२] सुश्रुत के अनुसार संभोग के समय भी जैसा मानसिक भाव और चेष्टा होती है, उसका प्रभाव होने वाले बच्चे पर पड़ता है ।[३] इस प्रकार गर्भिणी के प्रत्येक विचार की छाया गर्भ पर पड़ती है ।[४] चरक ने इस बारे में विस्तार से चर्चा की है कि किस भाव वाली स्त्री के कैसा बच्चा होता है ।[५]

स्वस्थ शरीर की संरचना तथा प्राप्ति के लिए गर्भ सम्बन्धी अनेक प्रकार की जानकारी मनुष्य के लिए परम हितकर है । परन्तु इसमें और भी अनुसंधान की आवश्यकता है । पाश्चात्य विद्वान् पोटर का चिन्तन है कि जिस धारणा या थ्योरी का खण्डन या विवेचन न किया जा सके, वह ज्ञान नहीं होता ।

१- विपाक सूत्र, १।१।५६-६३

२- श्रमण-मासिक पत्रिका, बनारस

३- सुश्रुत संहिता, २।४६

५- चरक, ८।१६, पृ० २०८५-८७

मनोविज्ञान के सन्दर्भ में -

भाग्य को बदलने का सिद्धांत—संक्रमकरण

□ रत्नलाल जैन

विश्व का कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं जो परिवर्तनशील न हो। जो नित्य है वह अनित्य भी है, और जो अनित्य है वह नित्य भी है। सब परिवर्तनशील है।

भगवान् महावीर ने कर्म सिद्धांत के विषय में कुछ नई धारणाएं दीं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। उन्होंने कहा[1]—"उद्वर्तन (उत्कर्ष), अपवर्तन (अपकर्ष), उदीरणा और संक्रमण से 'कर्म को बदला जा सकता है"—दूसरे शब्दों में भाग्य को बदला जा सकता है।

आज का विज्ञान जहां अब इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि पारे से सोना बनाया जा सकता है। प्राचीन रसायन शास्त्रियों ने पारे से सोना बनाने की अनेकों विधियां बताई हैं। जैन ग्रन्थों में भी उनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है।

पारे से सोना कैसे ?

वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पारे के अणु का भार २०० होता है।[2] उसे प्रोटोन के द्वारा तोड़ा जाता है। प्रोटोन का भार १ (एक) होता है। प्रोटोन से विस्फोटित करने पर वह प्रोटोन पारे में घुल-मिल गया और पारे का भार २०१ हो गया। २०१ होते ही अल्फा का कण निकल जाता है, उसका भार चार है, जो कम हो गया। शेष १९७ भार का अणु रह गया। सोने के अणु का भार १९७ और पारे के अणु का भार भी १९७, सो पारा सोना हो गया। वैज्ञानिकों ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया है। इस पद्धति से बनाया गया सोना महंगा पड़ता है, किन्तु यह बात प्रामाणिक हो[3] गई है कि पारे से सोना बनता है।

चांदी से सोना

नागार्जुन ने अपने 'रस-[4]रत्नाकर' में लिखा है कि गन्धकशुद्धि के प्रयोग द्वारा चांदी को सोने में परिवर्तित किया जा सकता है—

'इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि पीला गन्धक पलास-निर्याम-रस से शोधित होने पर तीन बार गोबर के कण्डों पर गरम करने पर चांदी को सोने में परिवर्तित कर दे।'

तांबे से सोना

रस-रत्नाकर[5] में ही आगे लिखा है—'इसमें आश्चर्य ही क्या यदि तांबे को रसक रस द्वारा तीन बार तपाएं तो वह सोने में परिणत हो जाए।' अतः अनेक

क्रियाओं द्वारा तत्त्वों में परिवर्तन हो जाता है।

ऐसा संक्रमण से होता है। संक्रमण का अर्थ कोशकारों ने इस प्रकार किया है—१. जाना या चलना। २. एक अवस्था से धीरे-धीरे बदलते हुए दूसरी अवस्था में पहुंचना। ३. सूर्य का एक राशि से निकलकर दूसरी में प्रवेश करना—४. घूमना, पर्यटन।[5] जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के अनुसार—

'जीव के परिणामों के वश से कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना संक्रमण है।'[6] 'जो प्रकृति पूर्व में बन्धी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना संक्रमण है।'[7] 'जिस अध्यवसाय से जीव कर्म प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान दलिकों के साथ संक्रांत कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—यह संक्रमण है।'[8]

'वर्तमान काल में वनस्पति-विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। निम्न जाति के बीजों को उच्च जाति के बीजों में बदल देते हैं। इसी प्रक्रिया से गुलाब की सैंकड़ों जातियां पैदा की गई हैं। इसी संक्रमण प्रक्रिया को संकर प्रक्रिया कहा जाता है, जिसका अर्थ संक्रमण करना है। इसी संक्रमणीकरण की प्रक्रिया से संकर मक्का, संकर बाजरा संकर गेहूं के बीज पैदा किए गए हैं।'[9]

चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकारग्रस्त अंग-हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर अन्धे व्यक्ति को सूझता कर देते हैं। रुग्ण हृदय को स्वस्थ हृदय बना देते है तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर, निर्बलता आदि रोगों को स्वस्थ बनाकर नीरोगी बना दिया जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है—(१) रोग के कष्ट से बचना एवं (२) स्वस्थ अंग से शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व बन्धी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और उसके दुःखद फल से बचा जा सकता है।'[10]

संक्रमण के भेद

संक्रमण के चार प्रकार हैं[11]—(१) प्रकृति संक्रम, (२) स्थिति संक्रम, (३) अनुभाव संक्रम और (४) प्रदेश संक्रम।

प्रकृति संक्रम में पहले बन्धी हुई प्रकृति वर्तमान में बन्धने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है। किन्तु 'मूल प्रकृतियां फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं।' 'मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता।'[12] अर्थात् ज्ञानावरणी कभी दर्शनावरणी रूप नहीं होती। सारांश यह हुआ कि उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है। अर्थात् एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृति रूप में परिणति कर सकती है।'[13]

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक् वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रम नहीं होता।

आयुष्य की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रम नहीं होता। उदाहरण स्वरूप

नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य रूप में संक्रम नहीं करता। इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं।'

एक बार गौतम ने पूछा[14]—

'भगवन् ! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नहीं होती, क्या यह सच है ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम ! यह सच है। नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—सब जीव किए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नहीं होते।"

भगवान् महावीर ने आगे कहा[15]—"गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—(१) प्रदेश[16] कर्म और (२) अनुभाग[17] कर्म। जो प्रदेश कर्म हैं वे नियमतः भोगे जाते हैं और जो अनुभाग कर्म हैं वे कुछ भोगे जाते हैं और कुछ नहीं भोगे जाते।

गौतम ने पुनः पूछा—भगवान् ! अन्य यूथिक कहते हैं—सब जीव एवं भूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है ?

भगवान् बोले—गौतम ! अन्य यूथिक जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसे कहता हूं—कई जीव एवं भूत वेदना भोगते हैं और कई अन्-एवं भूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं वे एव भूत वेदना भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवं भूत-वेदना भोगते हैं।[18]

इसी प्रकार स्थानांग सूत्र की निम्न गाथा में भगवान् महावीर ने मनुष्य को अपने पुरुषार्थ को जागृत करने का सन्देश दिया है—

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—
सुभे णाम मेगे सुभ विवागे,
सुभे णाम मेगे असुभविवागे।
असुभे णाम मेगे सुभ विवागे,
असुभे णाम मेगे असुभ विवागे॥[19]

—कुछ कर्म शुभ होते हैं, उनका विपाक भी शुभ होता है।
कुछ कर्म शुभ होते हैं, पर उनका विपाक अशुभ होता है।
कुछ कर्म अशुभ होते हैं, पर उनका विपाक शुभ होता है।
कुछ कर्म अशुभ होते हैं, और उनका विपाक भी अशुभ होता है।

'दूसरे शब्दों में, बन्धा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप, बन्धा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य। कितनी विचित्र बात है—यह सारा संक्रमण का सिद्धांत है।'

जो शुभ रूप में बन्धा है, उसका विपाक शुभ होता है। यह एक विकल्प है।

और जो अशुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक अशुभ होता है। यह दूसरा विकल्प है—इन दोनों विकल्पों में कोई विमर्शणीय तत्त्व नहीं है, किन्तु दूसरा और तीसरा—ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं, और ये संक्रमण सिद्धांत के प्ररूपक हैं।

संक्रमण का सिद्धांत पुरुषार्थ का सिद्धांत होता है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ-शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है।

हम पुरुषार्थ का मूल्यांकन करें, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि सारा दायित्व कर्तृत्व का है, पुरुषार्थ का है।[10]

मूल वृत्तियों में परिवर्तन

व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास मूल वृत्तियों के परिवर्तन पर ही निर्भर होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह परिवर्तन चार[11] पद्धतियों द्वारा सम्भव है—

१. अवदमन (Repression) २. विलयन (Inhibition) ३. मार्गान्तरीकरण (Redirection) और ४. शोधन (Sublimation)।

अवदमन—मूल प्रवृत्तियों का दमन करना जल-प्रवाह पर बांध बांधने के समान होता है। इससे अनेक भावना-ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाती हैं।

विलयन—इसके दो अंग हैं—

(१) निरोध और (२) विरोध। निरोध का तात्पर्य वृत्ति को उत्तेजित होने के लिए अवसर ही न देने से है। विरोध—में दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों को एक साथ उत्तेजित कर देने से मूल वृत्तियों में परिवर्तन होता है। संग्रह-वृत्ति, त्याग-भावना से शांत की जा सकती है। स्नेह, सहानुभूति और खेल की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देने से युयुत्सा प्रवृत्ति में परिवर्तन लाया जा सकता है।

यही बात पातंजल योग, में कही गयी है—'वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्'[12]। अर्थात् अशुभ भावना को तोड़ना है तो शुभ भावना पैदा करो। 'दशवैकालिक' सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्षी भावना का सुन्दर निरूपण किया गया है—

> उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
> मायामज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥[13]

—'यदि क्रोध के भाव को नष्ट करना तो उपशम—क्षमा के संस्कार को पुष्ट करना होगा। उपशम का भाव जितना अधिक पुष्ट होगा, क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जाएगा। अभिमान के आवेग—भाव को विनम्रता से जीता जा सकता है। माया के आवेग को नष्ट करने के लिए ऋजुता—आर्जव—सरलता के संस्कार को पुष्ट करना होगा। लोभ की प्रवृत्ति संतोष के भाव से नष्ट या कम की जा सकती है।' अतः भोग की प्रवृत्ति के शमन के लिए त्याग की उदात्त भावना को जीवन का अंग बनाना पड़ेगा। यही भाग्य को बदलने का सिद्धांत है। □

संदर्भ—

१. कर्मवाद, पृ० १०२—युवाचार्य महाप्रज्ञ।

२. वही।

३. 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा', पृ० १५९।

—डा० सत्य प्रकाश डी० एस-सी०

—किमत्र चित्रं यदि पीत गंधकः पलाश निर्यास रसेन शोधितः।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥

४. वही—
किमत्र चित्रं रसको रसेन..........
क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रञ्जितः करोति शुल्वं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥

५. नालन्दा विशाल शब्द-सागर, पृ० १३७२-७३।

६. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग ४) पृ० ८२।

७. (क) 'जैन कर्म सिद्धांत और मनोविज्ञान' पृ० १६३।
(ख) गोम्मटसार कर्मकांड, जीव तत्त्व प्रदीपिका ४६८।५९१।१४
—पर प्रकृति रूप परिणमनं संक्रमणम्।

८. (क) जैन कर्म सिद्धांत और मनोविज्ञान पृ० १६३।
(ख) नव पदार्थ—आचार्य भीखणजी।
सटिप्पण अनुवादक - श्री चन्दरामपुरिया, पृ० ७२६।
(ग) जैन धर्म और दर्शन, पृ० ३०७।
(घ) संक्रमकरणम् (भाग १) पृ० २ : कर्मप्रकृती—
'सो संकमो त्ति वुच्चइ जं बन्धन परिणओ पओगेण।
पगयन्तरत्थं दलियं, परिणमयइ तयणु भावे जं'॥१॥

९. जिनवाणी—कर्म सिद्धांत विशेषांक, अक्टूबर-दिसंबर '८४'
—करण सिद्धांत—भाग्य निर्माण की प्रक्रिया पृ० ८१।
—श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

१०. वही, पृ० ८२।

११. ठाणं, ४.२-९७ : चउव्विहे संकमे पण्णत्ते, तं जहा—
पगति संकमे, ठिति संकमे, अणुभाव संकमे, पएस संकमे।

१२. गोम्मटसार कर्म कांड, मूल व जीव तत्त्व प्रदीपिका-४१०।
णत्थि मूलपयडीणं।........संकमणं॥४१०॥
मूल प्रकृतीनां परस्पर संक्रमणं नास्ति,.......

१३. (क) तत्त्वार्थ ८.२२ भाष्य : उत्तर प्रकृतिसु सर्वासु—मूल प्रकृत्यभिन्नासु न तु मूल प्रकृतिषु संक्रमो विद्यते,.......उत्तर प्रकृतिषु च दर्शन चारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीयस्यायुष्कस्य च.....।
(ख) तत्त्वार्थ ८.२२, सर्वार्थसिद्धि :
—अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां

स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयु-दर्शन चारित्रमोहवर्जानाम् न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेनन, चारित्रमोहो दर्शन मोहमुखेन।

१४. भगवती १,४ : हंता गोयमा! नेरेइयस्स वा तिरिक्खमणुदेवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो·········एवं खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते।

१५. भगवती १,४ : दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा—
पएस कम्मे य, अणुभाग कम्मे य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वे एइ, तत्थ णं जं तं अणुभाग कम्मं तं अत्थे गइयं णो वेएइ।

१६. भगवती, १.४ वृत्ति : प्रदेशा कर्मपुद्गला।
जीवप्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूपं कर्म प्रदेश कर्म।

१७. भगवती वृत्ति, १.४ : अनुभाग : तेषामेव कर्म प्रदेशानां संवेद्यमानताविषयो रसः तद्रूपं कर्मोऽनुभाग-कर्म।

१८. भगवती ५.५।

१९. ठाणं, ४.६०३।

२०. कर्म और पुरुषार्थ—महाप्रज्ञ, जिनवाणी 'कर्म विशेषांक' पृ० १०५।

२१. मनोविज्ञान और शिक्षा, पृ० १८३—डॉ० सरयू प्रसाद चौबे।

२२. पातंजल योग सूत्र, २,३३।

२३. (क) दशवैकालिक ८.३९ :
(ख) शांत सुधारस, संवर भावना ८.३।

वर्ष-३, अंक-४, अक्टूबर-९१, ५१-६०

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

कर्मवाद का मनोवैज्ञानिक पहलू

☐ रतनलाल जैन*

कर्मवाद भारतीय दर्शन का एक प्रतिष्ठित सिद्धांत है। उस पर लगभग सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनों ने विमर्श प्रस्तुत किया है।

"पूरी तटस्थता के साथ कहा जा सकता है कि इस विषय का सर्वाधिक विकास जैन दर्शन में हुआ है। [१]. कर्मवाद मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है। अतः कर्मशास्त्र को कर्म मनोविज्ञान ही कहना चाहिए।

कर्मवाद में-

कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बन्धन से लेकर मुक्ति तक-सभी विषयों पर गहन चिंतन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्मशास्त्र के बड़े-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं, फिर भी हजारों वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावली को समझना स्वयं एक समस्या है।

मनोविज्ञान में-

आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं, जिन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया, उन्हीं समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विचार कर रहे हैं।

समन्वय की भाषा-

यदि मनोविज्ञान के सन्दर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं, अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं। यदि कर्मशास्त्र के संदर्भ में मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं। [२]

*गली आर्य समाज, हांसी (हरियाणा) १२५ ०३३

कर्म के वीज-राग और द्वेष

भगवान् महावीर ने कहा है-

"राग और द्वेष-ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण से दु:ख होता है।" [३.]

प्रीति और अप्रीति-राग और द्वेष

दो ही प्रकार की अनुभूतियां हैं, एक है प्रीत्यात्मक अनुभूति और दूसरी है अप्रीत्यात्मक अनुभूति।

प्रीत्यात्मक अनुभूवि या संवेदना को राग कहते हैं और अप्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को द्वेष कहते हैं।

पातंजल, योग दर्शन में कहा गया है-

"सुखानुशयी रागः" [४] सुख भोगने की इच्छा राग है।

"दुःखानुशयी द्वेषः" [५] दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है, उसे द्वेष कहते हैं।

राग का स्वरूप

"इष्ट पदार्थों के प्रति रतिभाव को राग कहते हैं।" [६.]

धवला में कहा है-

-"माया-लोभ-वेदत्रय हास्य रतयो रागः" [७.]

-माया, लोभ, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नंपुसकवेद (काम भाव), हास्य और रति-इनका नाम राग है।

वाचकवर्य उमास्वाति ने लिखा है-

"इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममता, अभिनन्दन, प्रसन्नता और अभिलाषा आदि अनेक राग भाव के पर्यायवाची हैं।" [८.]

चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ में माया और लोभ को राग की संज्ञा दी गई है। [९.]

माया के पर्यायवाची शब्द

माया के निम्नलिखित नाम हैं-

१. माया- कपटाचार।

२. उपाधि- ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना॥

३. निवृत्ति- ठगने के लिए अधिक सम्मान देना॥

४. वलय- वक्रतापूर्ण वचन ।

५. गहन- ठगने के उद्देश्य से अत्यंत गूढ़ ममत्व करना॥

६. नूम- ठगने के हेतु निकृष्ट कार्य करना॥

७. कल्क- दूसरों को हिंसा के लिए उभारना॥

८. कुरुक- निन्दित व्यवहार करना॥

९. दंभ- कपट ।

१०. कूट- नाप-तौल में कम-ज्यादा देना ।

११. जैह्म- कपट का काम ।

१२. किल्विषिक- भांडों के समान चेष्टा करना॥

१३. अनाचरण- अनिच्छित कार्य भी अपनाना॥

१४. गूहन- अपनी करतूत को छिपाने की करतूत करना॥

१५. वंचन- ठगी ।

१६. प्रतिकुंचनता- किसी के सरल रूप से कहे हुए वचनों का खंडन करना॥

१७. साचियोग- उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना॥

ये सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएं हैं।

लोभ

लोभ के पर्यायवाची नाम इस प्रकार हैं-

१. लोभ- संग्रह करने की वृत्ति ।

२. इच्छा- अभिलाषा ।

३. मूर्च्छा- तीव्र संग्रहवृत्ति ।

४. कांक्षा- प्राप्त करने की आशा ।

५. गृद्धि- आसक्ति ।

६. तृष्णा- जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति ।

७. मिथ्या- विषयों का ध्यान ।

८. अभिध्या- निश्चय में डिग जाना या चंचलता ।

९. कामाशा- काम की इच्छा ।

१०. भोगाशा- भोग्य पदार्थों की इच्छा ।

११. जीविताशा- जीवन की कामना ।

१२. मरणाशा- मरने की कामना ।

१३. नंदी- प्राप्त संपत्ति में अनुराग ।

१४. राग- इष्ट वस्तु प्राप्ति की इच्छा ।

द्वेष का स्वरूप

"अनिष्ट विषयों में अप्रीति रखना ही मोह का एक भेद है, उसे द्वेष कहते

"असंह्यजनों में तथा असह्य पदार्थों के समूह में बैर के परिणाम रखना द्वेष कहलाता है।"[१३]

धवला में बताया गया है-

"क्रोध, मान, अरति, शोक, भय व जुगुप्सा- ये छह कषाय द्वेषरूप हैं।"[१४]

वाचकवर्य उमास्वाति ने द्वेष के निम्नलिखित नाम बताए हैं-

"ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर एवं प्रचंडन आदि द्वेष भाव के पर्यायवाची हैं।"[१५]

चार कषायों क्रोध, मान, माया और लोभ में क्रोध और मान को द्वेष की संज्ञा दी गई है।[१६]

क्रोध

समवायांग में क्रोध के निम्नलिखित नाम दिए गए हैं-[१७]

१. क्रोध- आवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था ।

२. कोप- क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता ।

३. रोष- क्रोध का परिस्फुट रूप ।

४. अक्षमा- अपराध क्षमा न करना ।

५. संज्वलन- जलन या ईर्ष्या की भावना ।

६. कलह- अनुचित भाषण करना।

७. चांडिक्य- उग्र रूप धारण करना।

८. भंडन- हाथापाई करने पर उतारू होना।

९. विवाद- आक्षेपात्मक भाषण करना

दोष- स्वयं या दूसरे पर दोष थोपना।

मान

जैन-जगत् में मान के अष्ठ भेद हैं-इन्हें आठ मद भी कहा जाता है-

१. जाति, २. कुल, ३. बल (शक्ति), ४.ऐश्वर्य, ५. बुद्धि, ६. ज्ञान (सूत्रों का ज्ञान), ७. सौन्दर्य व ८. अधिकार

मान के निम्नलिखित पर्यायवाची हैं-[१८]

१. मान- अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति।

२. मद- अहंभाव में तनमयता ।

३. दर्प- उत्तेजनापूर्ण अहं भाव ।

४. स्तंभ- अविनम्रता ।

५. आत्मोकर्ष- अपने को दूसरे से श्रेष्ठ मानना ।

६. गर्व- अहंकार ।

७. परपरिवाद- परनिन्दा ।

८. उत्कर्ष- अपना ऐश्वर्य प्रकट करना ।

९. अपकर्ष- दूसरों को तुच्छ समझना ।

१०. उन्नत- दूसरों को छोटा मानना ।

११. उन्नाम- गुणीं के सामने न झुकना ।

१२. पुर्नाम- यथोचित रूप से न झुकना।

संवेगों–भावों का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण

मनोवैज्ञानिक राबर्ट वुडवर्थ ने कहा है–[19]

"यह एक महत्वपूर्ण बात है कि विभिन्न भावों और भावधाराओं के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। एक ही शब्द के सैकड़ो पर्यायवाची–समानार्थक शब्दों की खोज करना कोई बड़ा कार्य नहीं है। "मैं....अनुभव करता हूं" इस वाक्य को पूरा करने वाले ये शब्द हैं–

सुख– आनन्द, हर्ष, प्रसन्नता, गर्व, उल्लास,

दुःख– असंतुष्टि, शोक, उदासी, अप्रसन्नता, खिन्न,

प्रमोद– मनोविनोद, आमोद,

उत्तेजना– हलचल,

शान्त– संतुष्टि, स्तब्धता, रुचि शून्यता, परिश्रान्त,

आशा– उत्कंठा, मनोरथ, आश्वासन, उत्साह,

संशय– लज्जा, व्याकुलता, आकुलता, चिन्ता,

भय– त्रास, उद्वेग, भयंकर, भयातुर,

विस्मय– आश्चर्य, अद्‌भुत, अनोखा, अचंभा,

इच्छा– अभिलाषा, लालसा, कामना, प्रेम (राग),

पराङ्.मुखता– अरुचि, घृणा, अनिच्छुकता,

क्रोध– द्वेष, कोप, उद्विग्न, रोष, कलह,

उपर्युक्त सूची में प्रत्येक वर्ग का पहला शब्द उस वर्ग के सारांश को व्यक्त करता है। इनसे बड़े या छोटे अन्य वर्गीकरण भी किए जा सकते हैं।[20] दो मुख्य वर्गों– राग और द्वेष में सभी भावों का समावेश हो जाता है।

शत्रुता का कारण– राग–द्वेष

शिष्य बोला– गुरुदेव! एक ओर तो आप इन्द्रियों को परम उपयोगी बता रहे हैं और दूसरी तरफ उन्हें शत्रु कहा जा रहा है।

आचार्य ने कहा–

–आविष्टानि यदा तानि, रागद्वेष प्रभावतः।

तदा तानि विपक्षाणि, नेतराणि महामते।।

–महामति शिष्य! इन्द्रियां जब राग–द्वेष के प्रभाव से आविष्ट होती हैं, तभी शत्रु कहलाती हैं। राग–द्वेष मुक्त इन्द्रियां शत्रु नहीं है।[२१]

"जब गंगा के निर्मल पानी में फैक्ट्रियों का दूषित कचरा मिलता है तो वह पानी भी जरा दूषित हो जाता है। इन्द्रिय–ज्ञान की निर्मल–धारा में राग और द्वेष का कचरा मिल जाता है, उस अवस्था में वे शत्रु बन जाती हैं। यह बात अध्यात्म की भूमिका पर कही जा सकती है। इन्द्रियां एक साधक के लिए अहितकर भी है और शत्रुता का काम भी करती है। जब इनमें मूर्च्छा का मिश्रण हो जाता है, तब अध्यात्म विकास में बाधक उत्पन्न हो जाती है। जब मोह की गंदी नाली इन्द्रियों के साथ जुड़ जाती हैं, इन्द्रियां इस से आविष्ट हो जाती हैं, तब वे चित्त की निर्मल धारा को कलुषित कर देती हैं"।

राग–द्वेष– क्रोध–मान–माया–लोभ पर विजय

भगवान् महावीर ने क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय पाने का एक सूत्र[२२] दिया है–

"उपशम (क्षमा) भाव से क्रोध को जीतना चाहिए। मार्दव विनम्रता से अभिमान को जीतना चाहिए। आर्जव–सरलता के भाव से माया को जीतो और संतोष से लोभ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।"

महर्षि पतंजलि ने कहा है[२३]

"वितर्क बाधने प्रतिप भावनम्

–एक पक्ष को तोड़ना है तो प्रतिपक्षी भावना को उत्पन्न करो।

क्रोध की प्रतिपक्षी भावना है–क्षमा। अतः क्रोध–मान– माया–लोभ के भावों को इनके प्रतिपक्षी क्षमा, विनम्रता, ऋजुता तथा सन्तोष के भावों से शान्त किया जा सकता है।

परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत–

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन से व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। चार पद्धितयों द्वारा यह परिवर्तन संभव है–[२४]

१. *अवदमन (REPRESSION)*

२. विलयन (INHIBITION)

३. मार्गान्तरीकरण (REDIRECTION)

४. शोधन (SUBLIMATION)

विलयन पद्धति के अन्तर्गत दो साधन हैं–

१. निरोध और २. विरोध

"दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों को साथ ही उत्तेजित कर देने से मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। काम-प्रवृत्ति के उत्तेजित होने के समय यदि भय अथवा क्रोध उत्पन्न कर दिया जाए तो कामभावना ठंडी पड़ जाएगी।

संग्रह-प्रवृत्ति त्याग भावना से शान्त की जा सकती है।[२५]

अतः पातंजल योग दर्शन की प्रतिपक्ष की भावना, जैनागम के क्रोधादि भावों को उपशम (क्षमा) आदि से शांत करना तथा मनोवैज्ञानिक का विलयन (विरोधन) के सिद्धांत में आश्चर्यकारी साम्य-समानता है।

अतः यह समन्वयात्मक ज्ञान आत्म-विकास के लिए परम हितकर है। जिसका अध्ययन अपेक्षित है ।

सन्दर्भ-

१. कर्मवाद, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ-२३५।

२. कर्मवाद, कर्मशास्त्र मनोविज्ञान की भाषा में।

३. उत्तराध्ययन, ३२.७।

रागो या दोसो निय कम्मवीथं, कम्मंच मोहप्पभवं वयंति।

कम्मं च जाई मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयंति ।

४-५ पातंजल योग दर्शन, ।।२.७.८।।

६. प्रवचन सार/त.प्र./८५-अभीष्ट विषयप्रसङ्गेन रागम्।।

७. धवला १२/४, २,८, ८/२८३/८-माया लोभविदे-त्रय - हास्यरतयो रागः

८. प्रशमरति १८ इच्छा मूर्च्छा काम स्नेही गार्धय ममत्वगाभिनन्दः । अभिलाषं इत्यनेकानि राग पर्यायवचनानि

९. ठाणांग २.४.९६ माया लोप कषायश्चेत्येद् राग संज्ञि त्वं । क्रोधोमानश्च पुनद्वेषं समासनिर्दिष्टः

१०. समवाओं, ५२ः जैन विश्व भारती, लाडनूं-

-माया, उवही नियडी वलए गहणे, णूमेकक्के कुरुए दंभे जिम्हे किब्बिसिए आणायरणया गूहणया वंचणया पलिकुंचण या सातिजोगे ।

११. समवाओं, ५२ः ।

-लोभे इच्छा मुच्छा कंखा गेही तिण्हा भिज्जा अभिज्जा, कामसा, भोगासा, जीवियासा, मरणासा नंदी रागे।

१२. (क) प्रवचनसार/त-प्र/८५।

-मोहम्- अनभिष्ट विषयाप्रीत्याद्वेष मिति।

(ख) सर्वार्थसिद्धि/अ/५१ः -अप्रीतिरूपो द्वेषः

१३. नियमसार, तात्पर्य वृत्ति/६६ः-असह्यजनेषु वापि चासह्य पदार्थ सार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः

१४. धवला १२/४, २, ८, ८/२८३/८

१५. प्रशमरति, १९, उमास्वाति--ईर्ष्या, रोषो, दोषः, द्वेष परिवाद मत्सरासूयाः।

वैर प्रचंडनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायाः ।।१९।।

१६. ठाणांग- २.४.९६

१७. समवायांग, ५२ः

-कोहे, कोवे, रोसे, दोसे अखमा, संजलणे, कलहे, चंडिक्के, भंडणे विवाए।

१८. समवाओ, ५२ः

-माणे, मदे, दप्पे, थंभे, अत्तुक्कोसे, गव्वे, परपरिवाए, उक्कोसे, अवक्कोसे, उन्नए उन्नामे।

19. Psychology : A study of Mental life Feeling and Emotion- P.334. Robert S. Woodworth & Donald G. Marquis-Methuen & Co. London : It is remarkable how many words there are in common use for various feelings and shades of feeling. It would be no great task to find a hund red words, same of them, no doubt, synonymous to complete the sentence, I feel........... Here are a few names of feelings and emotions, roughly grouped into classes.

Pleasure- happiness, joy, delight, elation, raptoore .

Displeasure-discontent, grief, sadness, sorrow, dejection.

Mirth-amuserment, hilarity.

Excitement-Agitation.

Calm-contentment, munbress, apathy, weariness.

Expectancy-eagerness, hopen, assurance, courage.

Doubt-shyness, embarrasment, anxiety, worry.

Dread-fear, fright, terror, horror.

Surprise-amazement, wonder, relief, disappointment.

Desire-disgust, longing, yearning love.

Aversion-disgust, Roathing, hate.

Anger-resentment indignation, sullenness, rage, fray.

२०. The first word in each class is intended to give the keynote of the class. Other classification could be made broader or narrower. Two broad classes pleasant and unpleasant would incloude most of the feelings.

२१. अभ्युदय, पृष्ठ १३–युवाचार्य महाप्रज्ञ

२२. (क) दशवैकालिक ८.३९

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।

माया मज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

(ख) शान्त सुधारस ८.३, संवर भावना।

–क्रोधंक्षान्त्या मार्दवेनाभिमानं, हन्यामार्जवेनोज्ज्वलेन

लोभं वारां राशिरौद्रं निरुन्ध्याः, संतोषेण, प्रांसुना सेतुनेव।।

२३. पातंजल योगदर्शन, २.३३

२४. मनोविज्ञान और शिक्षा, पृष्ठ १८५:– डॉ. सरयूप्रसाद चौबे।

२५. वही, पृष्ठ १८६